lEiknoh;

पेरिस जलवायु सम्मेलन
धरती के विनाश पर समझौता

संयुक्त राष्ट्र जलवायु सम्मेलन की 21वीं वार्षिक बैठक 30 नवम्बर से 12 दिसम्बर तक पेरिस में सम्पन्न हुई। इस बैठक में उन साम्राज्यवादी देशों का समूह भी शामिल था जो धरती की तबाही के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार हैं और वे देश भी, जो जलवायु परिवर्तन के विनाशकारी परिणामों के सबसे ज्यादा शिकार हुए हैं और जलवायु परिवर्तन के लिए बिलकुल भी जिम्मेदार नहीं हैं। इस तरह, दो ध्रुवान्तों पर खड़े सबल और निर्बल, विनाशक और भुक्तभोगी, दोषी और निर्दोष, सभी एक सुर में बतकही करते हुए सहमति तक पहुँच गये। जाहिर है कि इस सफलता का श्रेय अमरीकी चौधराहट वाले साम्राज्यवादी समूह को है जो विकासशील और निर्धन देशों के हित में दबाब बनाने और अड़ंगेबाजी करनेवाले देशों की एकता तोड़कर उन्हें अलग-अलग करके अपने पीछे खड़ा करने में कामयाब रहा।

जलवायु समझौते के घोषणापत्र में इस संकट को लेकर झूठी चिन्ताएँ हैं, लुभावने नारे हैं, मोहक वादे हैं, शब्दों की बाजीगरी है और चुनावी भाषणों को मात देनेवाले ''यह करेंगे, वह करेंगे'' जैसे जुमलों की भरमार है। इसमें ऐसी तमाम अच्छी बाते हैं, जिनके विपरीत आचरण करना ही दुनिया-भर के नवउदारवादी शासकों का धर्म है। प्रधानमंत्री मोदी ने ठीक ही कहा कि इस समझौते में ''किसी के लिए जीतने-हारने को कुछ नहीं है।'' हालाँकि उनका अगला वाक्यांश समझौते के तथ्यों से मेल नहीं खाता कि ''यह जलवायु न्याय की जीत है,'' उलटे वहाँ जलवायु न्याय का खुलकर मजाक उड़ाया गया।

समझौते में कहा गया है कि ''जलवायु परिवर्तन के ऊपर कार्रवाई करते हुए सभी उपस्थित पक्षों को चाहिए कि वे मानवाधिकार, स्वास्थ्य का अधिकार, मूलनिवासी, स्थानीय समुदाय, अप्रवासी, बच्चे, विकलांग और दुर्बल वर्ग के लोगों के अधिकार के प्रति अपनी जिम्मेवारी समझकर तथा साथ ही लैंगिक समानता, महिलाओं का सशक्तिकरण और समन्वयकारी समता का सम्मान करें।'' इन शब्दाडम्बरों के अलावा समझौते में ग्लोबल वार्मिंग और पर्यावरण विनाश की कुछ कड़वी सच्चाइयों और विकट समस्याओं को स्वीकार किया गया है। इसमें सबसे ज्यादा जोर वैश्विक तापमान 1.5 डिग्री से अधिक न बढ़ने देने के लिए कार्बन उत्सर्जन में त्वरित कमी लाने पर है। लेकिन इसके लिए ''करना चाहिए,'' ''जितना जल्दी हो सके'' या ''भरसक प्रयास'' जैसे उदगारों से आगे बढ़कर इस लक्ष्य को हासिल करने की ठोस जिम्मेदारी तय करने या ठोस उपाय और समय सीमा सुनिश्चित करने की जगह उसे शब्द जाल में उलझा दिया गया तथा उसे अलग-अलग देशों की पवित्र इच्छाओं और भलमनसाहत पर छोड़ दिया गया है।

सम्मेलन की सफलता के लिए एक दूसरे की पीठ ठोंकनेवाले विभिन्न देशों के सरकारी प्रतिनिधि और कई पर्यावरणवादी संगठन भी जलवायु समस्या को स्वीकारे जाने को ही ''बहुत उत्साहजनक'' और ''आगे बढ़ा हुआ कदम'' बता रहे हैं। पर्यावरण संकट पर ख्यातिलब्ध पुस्तक 'दिस चेन्ज एवरीथिंग : क्लाइमेट एण्ड कैपिटलिज्म'' की लेखिका नॉमी क्लीन ने इस पर व्यंग्य करते हुए कहा कि यह स्वीकारोक्ति तो वैसी ही है जैसे कोई कहे कि ''मैं यह स्वीकार करता हूँ कि अगर मैं अपना ब्लड प्रेसर बहुत कम न करूँ तो मैं हार्ट अटैक से मर जाऊँगा। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इसके लिए हमें शराब पीना और चर्बीदार खाना कम करने और हर रोज व्यायाम करने की जरूरत है। इसलिए मैं हफ्ते में एक दिन व्यायाम करूँगा, पाँच की जगह चार ही हैम बर्गर खाऊँगा और हफ्ते में केवल दो बार शराब पियुँगा और आप मुझे हीरो कहिये क्योंकि मैंने अभी तक ऐसा कुछ नहीं किया और आपको तो पता ही है कि मैं कितना काहिल हूँ।''

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पृथ्वी का तापमान औद्योगिक क्रान्ति के स्तर से 1.5 डिग्री के ऊपर न जाये, इसकी अनिवार्य शर्त है-- मानवजनित कार्बन उत्सर्जन को शून्य स्तर तक लाना। इतनी सी बात को स्वीकार करने में दुनिया पर शासन करने वालों ने 20 साल लगा दिया और इसके लिए 21 बार सालाना बैठक करते रहे। क्वेटो प्रोटोकॉल में तापमान 2 डिग्री से ऊपर न हो,

इसके लिए कार्बन उत्सर्जन में कटौती की निश्चित समय सीमा और हर देश के लिए ठोस लक्ष्य तय किया गया था। हालाँकि उस पर किसी देश ने अमल नहीं किया। अमरीका ने तो उस प्रोटोकॉल को स्वीकार ही नहीं किया था। अब जिस स्वीकारोक्ति के लिए इस समझौते को 'महत्त्वाकांक्षी,' 'अत्यन्त सफल,' और 'जलवायु न्याय की जीत' बताया जा रहा है, उसमें इसके लिए कोई समय सीमा या अलग-अलग देशों के लिए लक्ष्य निर्धारित नहीं किया गया है। सभी देशों को अपना लक्ष्य खुद ही तय करना है और उसे लागू करवाने की कोई स्पष्ट कार्यविधि भी नहीं है जो बाध्यकारी हो।

ऐसा भी नहीं है कि पेरिस की बैठक में कार्बन उत्सर्जन घटाकर पृथ्वी के तापमान को बढ़ने से रोकने का कोई उपाय किया ही नहीं गया। लेकिन यह एक ऐसा उपाय है जिसे जमीन पर उतारना स्वर्ग से आग चुराकर लाने या गंगा को धरती पर उतारने के भागीरथ प्रयास से भी अधिक दुष्कर है। इस समझौते में कार्बन कटौती के लिए यह शर्त रखी गयी है कि अगर 55 देश, जिनका कुल कार्बन उत्सर्जन कम से कम 55 प्रतिशत हो वे अपनी सहमति दें, तभी यह सबके लिए बाध्यकारी होगा। इसके लिए उन 55 देशों को न्यूयार्क में 22 अप्रैल, 2016 से 21 अप्रैल 2017 के बीच सहमति पत्र पर हस्ताक्षर करना होगा और फिर उसे अपने-अपने देशों के कानूनी ढाँचे में स्वीकृत कराना होगा।

पहले तो ऐसे 55 देशों को जुटाना और सहमत कराना ही मुश्किल है। अगर हो भी जाय तो खुद अमरीका ही अपने देश में इसे कानूनी जामा पहना दे यह मुमकिन नहीं लगता। कारण यह की अमरीकी संसद में रिपब्लिकन पार्टी का बहुमत है। उसका मानना है कि जलवायु परिवर्तन और ग्लोबल वार्मिंग मानवजनित समस्या है ही नहीं। यह सब कुदरत का करिश्मा है। भला ऐसी सोचवाले रिपब्लिकन कार्बन कटौती के लिए राजी होंगे?

दुनिया में सबसे ज्यादा कार्बन उत्सर्जन करनेवाले दो देश-- अमरीका और चीन जब तक इसे रोकने पर आम सहमति कायम नहीं करते और अपने-अपने देश में ठोस कानून नहीं बनाते, तब तक पेरिस की बैठक ताऊ के घेर में हुक्के पर होनेवाली गप्पबाजी ही रहेगी।

धरती दिनोंदिन गर्म होती जा रही है, ग्लेशियर पिघल रहे हैं, भूजल स्तर गिर रहा है, समुद्र का जल स्तर ऊपर उठ रहा है, बेमौसम बारिश, बेबारिश बरसात, बाढ़ और सूखा बेकाबू हो रहा है, हवा-पानी में जहर घुलता जा रहा है। लेकिन दुनिया के शासक आज भी इस विनाशकारी समस्या का निदान करने के लिए ठोस और कार्यकारी फैसला लेने के बजाय टालमटोल कर रहे हैं तथा इस कार्यभार को स्वेच्छा, सदिच्छा और आपसी भरोसे पर छोड़ दे रहे हैं। कार्बन उत्सर्जन में कटौती की लफ्फाजी करनेवाले इस बात पर चुप है कि जब कार्बन उत्सर्जन के स्रोतों को नियंत्रित और प्रतिबन्धित नहीं किया जायेगा, तो कार्बन उत्सर्जन कैसे रुकेगा? वे पेट्रोलियम गैस और तेल, कोयला और ऊर्जा के खतरनाक कार्बन उत्सर्जक स्रोतों के उपयोग में कटौती के सवाल पर चुप्पी साध रहे हैं। वे जंगल की अन्धाधुन्ध कटाई और प्राकृतिक संसाधनों, खनिज पदार्थों की बेतहाशा लूट पर रोक लगाने के बारे में मुँह नहीं खोलते, यानी वे समाधान पर मौन हैं।

पेरिस का जलवायु जमावड़ा और वहाँ सम्पन्न जलवायु समझौता दुनिया-भर के उन शासकों के बीच का समझौता है जो अपने-अपने देशों में मानवाधिकारों और पारिस्थितिकी नियमों की धज्जी उड़ाते हैं। वे नवउदारवादी नीतियों के तहत विकास के नाम पर पर्यावरण विनाश पर उतारू हैं। ऐसे लोग जब आपसी विश्वास और पवित्र इच्छाओं की बात करते हैं तो इसका मतलब बिलकुल साफ है-- वे धरती को तबाह करने और लोगों के जीने के अधिकार का नृशंसतापूर्वक हनन करने के मुद्दे पर आपसी विश्वास और सहमति की बात करते हैं। इसके अलावा इनसे और कोई उम्मीद करना निरा भोलापन है। इनका यह रवैया यह बताता है कि अगर जलवायु संकट को हल करने की जिम्मेदारी इनके ऊपर छोड़ दी जाय तो ये धरती को जलाकर राख कर देंगे।

क्या विनाशकारी जलवायु परिवर्तन तथा धरती और इसके ऊपर निर्भर जीव जन्तुओं, पेड़-पौधों और वायुमण्डल को बचाना सम्भव है या नहीं? निश्चय ही इसका जवाब इस बात पर निर्भर है कि प्रकृति और मानव के बीच आपसी सम्बन्धों के प्रति हमारा नजरिया क्या है? जलवायु परिवर्तन मानवजन्य विपत्ति है, यह एक जघन्य अपराध है। दुनिया-भर के पूँजीवादी शासकों ने पिछले 300 वर्षों से जारी, अपने मुनाफे की हवस में प्रकृति का बेतहाशा दोहन और मानव श्रम का निर्मम शोषण करके धरती को नरक में बदल दिया। उन्होंने करोड़ों लोगों की जिन्दगी तबाह की और लाखों जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधों को हमेशा के लिए खत्म कर दिया। ऐसे में धरती और मानव-जाति को उनकी पवित्र इच्छाओं और मनमर्जी पर छोड़ना अपराधियों को कानून-व्यवस्था की बागडोर सौंपना है। एक नयी जीवन-दृष्टि और उस पर आधारित एक नयी समाज-व्यवस्था का निर्माण करना इस समस्या को हल करने की अनिवार्य शर्त है। इस सन्दर्भ में आज से पाँच साल पहले 'जलवायु परिवर्तन और धरती माँ के अधिकारों के बारे में जनता का राजीनामा' शीर्षक से कोचाबाम्बा मसविदा घोषणा पत्र जारी किया गया था जिसका निम्न अंश विचारणीय है--

''मानवता आज एक भारी दुविधा का सामना कर रही है पूँजीवाद, लूटपाट और मौत के रास्ते पर आगे बढ़ना जारी रखे या

प्रकृति के साथ समन्वय और जीवन के प्रति सम्मान का मार्ग अपनाये।

...एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना बेहद जरूरी है जो प्रकृति के साथ और मानव जाति के बीच आपसी तालमेल के लिए फिर से बहस करे। प्रकृति के साथ सन्तुलन कायम करने के लिए मानव जाति के बीच समानता का होना जरूरी है।

...जलवायु परिवर्तन का सामना करने के लिए हमें धरती माँ को जीवन का स्रोत मानते हुए और निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित एक नयी व्यवस्था का निर्माण करना जरूरी है।

•सभी लोगों के बीच व सभी चीजों के साथ सन्तुलन और समन्वय;

• परिपूरकता, भाईचारा और समानता;

•प्रकृति के साथ जनता का सामन्जस्य;

•मनुष्यों की पहचान इस बात से तय होना कि वे कौन हैं, इससे नहीं कि वे किन-किन चीजों के मालिक हैं;

•उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और दखलन्दाजी के सभी रूपों की समाप्ति;

•जनता के बीच और धरती माँ के साथ शान्ति;

हम जिस मॉडल के हिमायती हैं वह अमर्यादित और विनाशकारी विकास का मॉडल नहीं है। सभी देशों को अपनी जनता की मूलभूत जरूरतों की पूर्ति के लिए माल और सेवाओं के उत्पादन की जरूरत होती है, लेकिन हम किसी भी सूरत में सर्वाधिक धनी देशों द्वारा अपनाये गये उस रास्ते पर नहीं चल सकते जिसने इस ग्रह के ऊपर उसकी क्षमता से पाँच गुना बड़ा पारिस्थितिक बोझ डाल दिया है।''

अब से 23 साल पहले पृथ्वी सम्मेलन में फिदेल कास्त्रो ने कहा था-- ''स्वार्थपरता बहुत हो चुकी। दुनिया पर वर्चस्व कायम करने के मंसूबे बहुत हुए। असंवेदनशीलता, गैरजिम्मेदारी और फरेब की हद हो चुकी है। जिसे हमें बहुत पहले ही करना चाहिए था, उसे करने के लिए कल बहुत देर हो चुकी होगी।'' पर्यावरण के सवाल को मेहनतकशों के संघर्ष की कार्यसूची पर लाना बेहद जरूरी है। पेरिस की सड़कों पर विरोध प्रदर्शन कर रहे हजारों लोगों की भीड़ से एक नारा उठा था--

शून्य कार्बन, शून्य गरीबी! मुर्दा धरती पर कोई नौकरी नहीं मिलेगी!!

O

पाठकों से अपील

❑ **'देश-विदेश' अंक 22 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाय।**

❑ **जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाय या नहीं।**

❑ **देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 20 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।**

❑ **पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से मँगवाने के लिए 5 अंकों की सहयोग राशि 100 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 1000 रुपये निम्न लिखित बैंक खाते में अन्तरित करें। और इसकी सूचना एसएमएय या ई मेल से भेज दें।**

नाम : अतुल कुमार गुप्ता
S.B. A/C : 601510100024041
IFSC : BKID 0006015
बैंक ऑफ इण्डिया,
जी।टी। रोड, शाहदरा, दिल्ली-32

मनी ऑर्डर भेजने का पता है-
अतुल कुमार गुप्ता
1/4649/45 बी, गली न। 4,
न्यू मॉर्डन शहादरा
दिल्ली- 110032

ikBdksa ds i=k

मैं देश-विदेश पत्रिका नियमित पढ़ता हूँ। पत्रिका के नये अंक का मुझे इंतजार रहता है। आज की जटिल दुनिया को समझन के लिए यह एक कारगर माध्यम है। पत्रिका के लेखों में एक साफ समझ होती हैं कि देश दुनिया में जो हो रहा है तो आखिर क्यों हो रहा है, किसलिए हो रहा और इससे निजात कैसे पायी जा सकती है। पत्रिका अभी भी अनियमित है इसे नियमित बनायें।

--आशिष कुमार, शामली

देश-विदेश पत्रिका की सबसे मुख्य बात यह है कि इसके प्रत्येक लेख में तथ्यों का सटीक विश्लेषण होता है। सभी लेखक किसी भी घटना का विश्लेषण करते समय पाठक को अपने साथ बाँधे रखते हैं। अंक-21 का सम्पादकीय देश की सामजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति का आँखों के सामने ताजा चित्र खींच देता है। कांग्रेस और भाजपा दोनों ही पार्टियों नें नयी आर्थिक नीतियों को किस तरह से आगे बढ़ाया है उनके बीच बुनियादी फर्क को लेख स्पष्ट करता है। 'निजी शिक्षण संस्थानों की लूट' शीर्षक लेख में अजय ने बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि आज शिक्षा व्यवस्था पूरी तरह से पूँजीपतियों की गिरफ्त में जा चुकी है। इस लेख ने नौजवानों के दिलों का दर्द सतह पर लाकर रख दिया है। पत्रिका में साहित्य से सम्बन्धित लेखों को भी शामिल किया जाय।

-मारिया, कानपुर

देश-विदेश का अंक 21 में प्रकाशित प्रवीण कुमार का लेख 'मूल अधिकार और मानवाधिकार की बुनियाद है निजता का अधिकार' बहुत शानदार लगा। इसमें उन्होंने आधार कार्ड की सच्चाई बतायी। अजय का लेख 'निजी शिक्षण संस्थानों की खुली लूट' बहुत प्रभावी था। शिक्षा व्यवस्था किस तरह व्यापार बन गयी है इसका अच्छा विश्लेषण किया गया है। अकादमिक संस्थाओं में नियुक्तियों को लेकर विवाद लेख इसमें सरकार किस तरह से अपनें मन पसन्द लोगों को उच्च शिक्षण संस्थानो नियुक्त कर रही है इसके बारे में सानदार विश्लेषण किया। इस पत्रिका नें मेरी राजनीतिक चेतना को बढ़ाने में और समझदारी बढ़ाने में अहम भूमिका निभायी है।

--सन्देश कुमार, ऐटा (यूपी)

पूर्व में स्थानीय अखबारों एवं पत्रिकाओं को पढ़कर कुछ जानकारी तो जरूर मिलती थी, लेकिन बढ़ते अपराधों और उनके समाधान के अभाव में निराशा अधिक होती थी। देश -विदेश पत्रिका पढ़ने के बाद साम्प्रदायिकता, बेरोजगारी, शिक्षा नीति, पर्यावरण संकट, गिरती अर्थव्यवस्था एवं अन्य महत्त्वपूर्ण सामयिक मुद्दो पर एक वैज्ञानिक सोच बनी। इसके साथ ही पत्रिका के विभिन्न अंकों में समय-समय पर उपलब्ध भगत सिंह, प्रेमचंद, ह्यूगो शावेज, फिदेल कास्त्रो जैसे क्रान्तिकारियों के विचारो ने एक नयी प्रेरणा के साथ आगे का रास्ता दिखलाया। आज जहाँ मुख्यधारा की पत्रकारिता से किसानों, नौजवानों, दलितों, स्त्रियों के मुद्दे गायब होते जा रहे हैं, वहीं देश-विदेश पत्रिका समाज की असली तस्वीर पेस करते हुए उसके कारणों की खोज में तत्पर नजर आती है। मैं पत्रिका के विस्तार की कामना करता हूँ।

--अजय पुण्डीर, मुजफ्फर नगर

जिस मुद्दे पर लेख हो उससे सम्बन्धित यदि कोई स्केच या फोटो भी लगायें तो पढ़ने में रुचि बढ़ने के साथ-साथ एक गहरा प्रभाव भी पड़ेगा। ये बात तो शत प्रतिशत सच है कि पढ़ने से ज्यादा देखने से चीजें साफ होती हैं।

--कवीन्द्र, बलिया

आज समाज में हर तरफ अवैज्ञानिकता, अन्धविश्वास और मानवीय मूल्यों का विघटन हो रहा है। ऐसे में कोई भी माध्यम जो समाज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानवीय मूल्यों को फैलाने का काम कर रहा हो और जनता के मुद्दों का सटीक विश्लेषण करता हो, वह बेहद सराहनीय है। यह काम 'देश-विदेश पत्रिका निरन्तर कर रही है। इस पत्रिका के माध्यम से नये कानूनों और नयी नीतियों का लोगों पर प्रभाव, अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं और इतिहास का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत कर आम जनता की चेतना को बढ़ाया जा रहा है। "देश-विदेश" अंक 21 में कवर पर प्रकाशित चित्र का नाम नहीं दिया गया था, ऐसे में चित्र पहचानना मुश्किल हो जाता है। इसलिए प्रकाशित चित्रों की जानकारी भी दें।

-सतेन्द्र बड़ौत

मेरे विचार से देश-विदेश पत्रिका एक विचारशील पत्रिका है। अंक 21 पढ़ा पत्रिका में अलग-अलग समसामयिक विषयों पर लेख दिये गये हैं, पत्रिका की एक बात जो मुझे अन्य पत्रिकाओं से अलग लगी, पत्रिका केवल हमारे देश और देश की राजनीति तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसमें अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों को भी उठाया गया है। पत्रिका की सबसे बड़ी ताकत इसकी भाषा है। यहाँ भाषा को लेकर बहुत राजनीति होती रही है, कि ज्ञान को किस भाषा में लोगों तक पहुँचाया जाये, ज्ञान को कुछ खास लोगों तक ही सीमित रखने में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। देश के विभिन्न वर्गों और तबकों की बड़ी आबादी तक जानकारियों को पहुँचाने के लिए भाषा का सरल और बोधगम्य होना जरूरी हैं। कॉलेजों में अंग्रेजी और हिन्दी पढ़नेवाले मेरे जैसे विद्यार्थी भी दोनों ही भाषाओं को ठीक से समझ पाने सक्षम नहीं हैं। भाषा की क्लिष्टता द्वारा ज्ञान और जानकारियों को हमसे दूर कर दिया जाता है, देश-विदेश पत्रिका इस दूरी को काम करने में एक पुल का काम कर रही है। इस

पत्रिका की बोधगम्य भाषा के कारण पत्रिका किसी खास समूह के पाठकों तक ही सीमित नहीं, दूसरा इसमें आम जनता से जुड़े विषयों को भी उठाया गया है। एक पाठक के तौर पर मेरा एक सुझाव है कि पत्रिका को और अधिक लोगों तक पहुँचाने के लिए, पत्रिका में महिलाओं से जुड़ी सामग्री और ज्यादा होनी चाहिए। वैसे तो सभी सामाजिक और राजनितिक मुद्दों से महिलाएँ भी समान रूप प्रभाव होती हैं इसलिए पत्रिका में नियमित रूप से महिलाओं से सम्बन्धित कोना भी होना जरूरी है।

--रिया सिंह, शोधार्थी, आम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली

''देश-विदेश'' पत्रिका का 21वाँ अंक पढ़ा काफी अच्छा लगा। ऐसी पत्रिकाएँ कम ही निकलती हैं। ''देश-विदेश'' पत्रिका से बहुत सारी घटनाओं के बारे में जानकारी मिली ऐसी जानकारी जो हम 10 अखबार पढ़े तब भी पता नहीं चलती ज्यादातर अच्छी खबरें अंग्रेजी में आती हैं। जिससे वे लोग जो अंग्रेजी नहीं जानते हैं, वंचित रह जाते हैं। यह पत्रिका बहुत ही अच्छी है और ऐसी पत्रिकाएँ निकलती रहनी चाहिए।

–सुनीता शर्मा, बागपत

'देश-विदेश' पत्रिका के सितम्बर 2015 अंक में 'शुक्रताल में जानलेवा प्रदूषण' लेख में बड़ी बखूबी से प्रदुषण की समस्या और उसके होनेवाले दुष्प्रभावों को उजागर किया है।सरकारी तंत्र का निकम्मापन और पूँजीपतियों की मुनाफाखोरी के बीच पर्यावरण की सुरक्षा केवल एक मजाक बनकर रह गयी है। इस लेख में समस्या जितनी दिखायी देती है असल में उससे कहीं अधिक गहरी है। इस समस्या से न केवल हमारी वर्तमान पीढ़ी अपितु हमारी आनेवाली पीढ़ी को भी इसका खामियाजा भुगतना होगा।

मैं इस पत्रिका को अपनी शुभकामना देना चाहूँगी की इस प्रकार अच्छे लेख लिखकर हमारे समाज को और जागरूक बनाये।

--सारिका गौड़ द्वारका, दिल्ली

मुझे पत्रिका के पिछले सात अंक प्राप्त हुए हैं। मैं इसकी विषय-वस्तु से खासा प्रभावित हुआ हूँ। "देश-विदेश" पत्रिका ज्ञानवर्धक, चेतनाशील और तार्किक है। पत्रिका का पाठक बनने के बाद ही मैं स्थानीय अखबारों की सीमाओं को पहचान पाया। आज स्थानीय हो या राष्ट्रीय, अधिकतर अखबार पाठकों तक खबरें कम, निजी कम्पनियों के विज्ञापन अधिक पहुँचाते हैं। आज अखबार अपने मूल उद्देश्य, जो जनता में तार्किक व निष्पक्ष खबरे पहुँचाने का था, उससे पूरी तरह भटके हुए तथा सरकार और पूँजीपतियों के पक्ष में साफ खड़े दिखाई देते हैं। ऐसे में "देश-विदेश" पत्रिका अभी भी सच्ची व जनपक्षधर पत्रकारिता को जिन्दा रखे हुए है। इसमें जितने सरल व सटीक शब्दों में राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं, खबरों और समस्याओं को समझाया तथा लिखा जाता है, ऐसा कम पत्रिकाओं में ही देखने को मिलता है। आज भारत में जनपक्षधर पत्रकारिता के अन्धेरे में यह पत्रिका हमें एक रोशनी दिखलाती है और उम्मीद जगाती है कि कुछ पत्र-पत्रिकाएँ हैं जो जनता को चेतना सम्पन्न और तार्किक बनाने का काम कर रहे हैं। पत्रिका पढ़ने के बाद ही मैं यह समझ पाया कि आज के वैश्विक दौर में हमें हर समस्या के बारे में वैश्विक स्तर पर सोचने की जरूरत है।

आज भारत में अशिक्षा, बेरोजगारी, गरीबी, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, महिला-प्रश्न और स्वाथ्य सेवाओं के आभाव के कारण जनता बुरी तरह त्रस्त है। जनता अभी इन समस्याओं का कारण नहीं जान पायी है। इसका फायदा उठाकर देशी-विदेशी निजी कम्पनियाँ, देश के हुक्मरानों के साथ मिलकर हमारा निर्मम शोषण कर रही हैं। आज सरकार हर क्षेत्र का निजीकरण करके, जनता को तबाह और बर्बाद करने की तैयारी कर रही है तथा जनता को प्राप्त नाममात्र की सुविधाएँ एक-एक करके छीन रही है। इस काम में देश की हर सरकार और हर राजनीतिक दल आगे है। आज सभी सरकारों ने 1990 के दशक में लागू की गयी आर्थिक नवउदारवादी नीतियों को ही आगे बढ़ाया है, जबकि ये नीतियाँ ही आज, मेहनतकश जनता की तबाही के लिए जिम्मेदार हैं। आज इन नीतियों की जानकारी हमें कोई अखबार नहीं देता। जिसका नतीजा, जनता में जानकारी का अभाव, भटकाव और बिखराव है। ऐसे माहौल में "देश-विदेश" पत्रिका पढ़ने से लोगों में एकता की भावना व जानकारी बढ़ती है। अभी "देश-विदेश" पत्रिका अनियतकालीन है। मैं निवेदन करूँगा कि पत्रिका को द्विमासिक या त्रिमासिक निकाला जाय और पत्रिका के हर अंक में एक कहानी जरूर दी जाय। मैं पत्रिका के कामों में सहयोग की कोशिश करूँगा और अपने सभी दोस्तों को भी पत्रिका के बार बताऊँगा।

-विशाल बागपत

मैं ''देश-विदेश'' पत्रिका की नियमित पाठक हूँ। पत्रिका हिन्दी में आनेवाली सभी पत्रिकाओं से अलग है। मुझे यह एक गम्भीर राजनीतिक पत्रिका के साथ-साथ साहित्यिक भी लगती है। पत्रिका में कविताएँ हमेशा अच्छी आती हैं। पत्रिका लगभग सभी राजनीतिक पहलुओं को छूती है। पत्रिका को और बेहतर बनाने के लिए मैं कुछ सुझाव देना चाहती हूँ। पत्रिका के कुछ लेख बहुत लम्बे होते हैं, उन्हें अगर छोटा कर दें तो सामान्य पाठक भी उनमें रुचि लेगा। अगर महिलाओं पर लेख नियमित दिये जायें तो बेहतर होगा। इतिहास, विज्ञान और तर्कशीलता को बढ़ावा देनेवाले नियमित स्तम्भ होने चाहिए। कवर के चित्र से जुड़ी जानकारियाँ भी जरूर दें। पत्रिका में प्रूफ की गलतियों पर विशेष ध्यान दें। पत्रिका को नियमित रूप से प्रकाशित किया जाय।

-दीप्ति, देहरादून

वैज्ञानिक नजरिये के बिना वैज्ञानिक

--डॉ. पुष्प मित्र भार्गव

भारत पिछले 85 वर्षों के दौरान विज्ञान में कोई भी नोबेल पुरस्कार विजेता नहीं पैदा कर पाया, क्योंकि देश में आमतौर पर वैज्ञानिक माहौल की कमी है।

1946 में प्रकाशित अपनी किताब "भारत एक खोज" में जवाहर लाल नेहरू ने "वैज्ञानिक नजरिया" शब्द का इस्तेमाल किया था। वे भारत के वैज्ञानिक कर्मचारी संघ (एएसडब्लूआई) नामक संगठन के अध्यक्ष भी थे, जो ट्रेड यूनियन के रूप में पंजीकृत था और जिससे मैं 1940 के दशक और 1950 के शुरुआती दशक में गहराई से जुड़ा था। (शायद यह एकमात्र उदाहरण होगा जहाँ किसी लोकतान्त्रिक देश का प्रधानमंत्री ट्रेड यूनियन का अध्यक्ष हो)। एएसडब्ल्यूआई का एक उद्देश्य वैज्ञानिक विचार का प्रचार-प्रसार करना भी था। शुरू में यह संगठन बहुत ही सक्रिय था, लेकिन 1960 तक आते-आते यह संस्था असफल होने लगी थी। कारण यह कि ऊँचे पदों पर बैठे वैज्ञानिकों सहित ज्यादातर वैज्ञानिकों की प्रतिबद्धता वैज्ञानिक नजरिये के प्रति नहीं थी। दरअसल वैज्ञानिक नजरिया तर्कशीलता और विवेक में विश्वास करने तथा किसी जड़सूत्र, अन्धश्रद्धा या ढोंग-पाखण्ड को स्वीकार नहीं करने की माँग करता है।

यह निष्कर्ष 1964 की एक घटना से भी पुष्ट होता है कि हमारे अपने ही वैज्ञानिक जिनसे ये उम्मीद थी कि वे वैज्ञानिक नजरिये को बढ़ाने में अगुआ होंगे, खुद ही वैज्ञानिक नजरिया नहीं रखते थे और वे उतने ही अन्धविश्वासी थे जितना कोई और समूह। सतीश धवन (जो बाद में अन्तरिक्ष विभाग के सचिव बने) के एक वक्तव्य के बाद अब्दुर रहमान (विज्ञान के एक प्रतिष्ठित इतिहासकार) और मैंने जनवरी 1964 में एक संगठन बनाया, जिसका नाम "द सोसाइटी फॉर साइंटिफिक टेम्पर" था। इसके संस्थापक सदस्यों में नोबेल पुरस्कार विजेता और प्रतिष्ठित वैज्ञानिक फ्रांसिस क्रीक भी शामिल थे। सदस्यता के लिए निम्नलिखित वक्तव्य पर हस्ताक्षर करना जरूरी था। "मैं विश्वास करता हूँ कि ज्ञान केवल मनुष्य के प्रयासों से हासिल किया जा सकता है, किसी रहस्योद्घाटन से नहीं और सभी समस्याओं का सामना अलौकिक शक्तियों का आह्वान किये बिना इनसान के नैतिक और बौद्धिक संसाधनों से किया जाना चाहिए।"

जैसे-जैसे हम एक के बाद दूसरे वैज्ञानिक तक पहुँचते गये हमारा भ्रम टूटता गया और सभी वैज्ञानिकों ने वक्तव्य पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। साफ था कि वे वैज्ञानिक नजरिये से हीन थे। इस मोहभंग के बाद मैंने शिक्षा मंत्री नुरूल हसन को अनुच्छेद 51 (अ) संविधान के 42 वें संशोधन, 1976 में निम्नलिखित धारा शामिल करने के लिए राजी किया। "वैज्ञानिक सोच, मानवतावाद तथा सुधार और जाँच पड़ताल की भावना का विकास करना भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होना चाहिए।"

इस संवैधानिक धारा से हमारे वैज्ञानिकों को जाग जाना चाहिए था और उन्हें वैज्ञानिक नजरिए से सम्बन्धित कर्तव्यों की याद आनी चाहिए थी लेकिन मुझे लगता नहीं कि पिछले 50-60 वर्षों पहले की तुलना में आज भी स्थिति बेहतर हुई है। मैं यहाँ तीन उदाहरण देता हूँ।

थोड़ा सुधार

भारतीय जनता पार्टी की पिछली सरकार में मानव संसाधन मंत्री मुरली मनोहर जोशी ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) को इस आशय से एक सर्कुलर निकालने के लिए कहा था कि सभी विश्वविद्यालयों को ज्योतिष में स्नातक पाठ्यक्रम शुरू कर देना चाहिए। उन्होंने कहा कि इस पाठ्यक्रम के लिए विशेष अनुदान दिया जाना चाहिए। मेरी सहकर्मी चंदना चक्रबर्ती और मैंने उच्चतम न्यायालय में याचिका दायर करके इस विधान पर आपत्ति जतायी थी। हमारे वकील प्रशान्त भूषण थे। याचिका को स्वीकार कर लिया गया था, लेकिन आखिरकार ज्योतिष में विश्वास के चलते उसे खारिज कर दिया गया (जैसी की उम्मीद की जा सकती थी) जो पूरी तरह अवैज्ञानिक और अतार्किक है और बार-बार जिसे मिथक के तौर पर दिखाया गया है, यह विश्वास इतना व्यापक है कि न्याय की कुर्सी पर बैठे लोग भी इससे बच नहीं पाते।

एक भी वैज्ञानिक या 6 राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी, जिन पर हर साल भारी धनराशी खर्च की जाती है, उनमें से कोई भी हमारे समर्थन में आगे नहीं आया। हमारे सभी समर्थक वैज्ञानिक समुदाय से इतर, दूसरे क्षेत्र के लोग थे, उन्होंने मुकदमा लड़ने के लिए बिना माँगे धन मुहैय्या

किया था। 1993 में मैंने अपने वैज्ञानिक संस्थानों की इन कमियों और विज्ञान से सम्बन्धित सामाजिक समस्याओं के प्रति उनकी संवेदनहीनता को देखते हुए मैंने 1993 में तीन विज्ञान अकादमियों की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया।

दूसरा उदाहरण हमारे वैज्ञानिकों और 6 विज्ञान अकादमियों की चुप्पी है, जब पिछले वर्ष प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने वैज्ञानिकों के समूह को सम्बोधित करते हुए दावा किया था कि अंग-प्रत्यारोपण प्राचीन भारत में ज्ञात था। उदाहरण में उन्होंने हाथी के सर और इनसान के धड़ को जोड़कर गणेश के बनाये जाने की बात कही थी।

तीसरा उदाहरण "संस्कृत के माध्यम से प्राचीन विज्ञान के बारे में" बहुचर्चित कॉन्फ्रेंस हो सकती है जो 102 वीं विज्ञान कांग्रेस, जो पिछले महीने में मुंबई में आयोजित की गयी थी। उस गोष्ठी में कहा गया था कि भारत के पास 9000 साल पहले (मोहनजोदड़ो और हड़प्पा सभ्यता से 4500 साल पहले) साठ गुना साठ फीट का 200 फीट लम्बा जम्बो वायुयान था जो महाद्वीपों और ग्रहों के बीच उड़ान भरता था। इतना ही नहीं यह भी दावा किया गया कि प्राचीन भारत में आज कि तुलना में बेहतर रडार प्रणाली थी जो इस सिद्धान्त पर आधारित थी कि सजीव और निर्जीव पदार्थ हमेशा उर्जा उत्सर्जित करते हैं। यह भी कहा गया कि विज्ञान और आध्यात्म के संयोजन से 21वीं सदी में अन्तर-वेधन का सिद्धान्त बनेगा। मुझे सन्देह है कि शायद ही किसी गम्भीर विद्वान ने ऐसे सिद्धान्त के बारे में कभी सुना हो जिसका कोई अर्थ ही न हो। विचार गोष्ठी में ऐसे ही दूसरे बेतुके दावे भी किये गये जो प्राचीन और मध्यकालीन भारत की सच्ची वैज्ञानिक उपलब्धियों का अपमान करनेवाले थे।

अकादमियों को बन्द किया जाना

तथाकथित प्रसिद्ध वैज्ञानिकों और विज्ञान अकादमियों में से किसी ने भी इन दावों के खिलाफ आवाज नहीं उठायी। निश्चय ही जिन प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों ने विज्ञान कांग्रेस का आयोजन किया था, वे जानते थे कि विचार गोष्ठी में क्या बातें कहे जाने का अनुमान है। लेकिन शायद वे इन सारी बातों पर विश्वास करते थे या राजनीतिक दबाव में थे। इसलिए भारतीय विज्ञान की सालाना कांग्रेस पर प्रतिबन्ध लगाने का मजबूत आधार है। मैंने अपने एक लेख में यह तर्क दिया था कि "भारतीय विज्ञान कांग्रेस को क्यों बन्द करना चाहिए" या फिर उसका नाम बदलकर "भारतीय विज्ञान विरोधी कांग्रेस" रख देना चाहिए।

जहाँ तक विज्ञान अकादमियों का सम्बन्ध है, उन्हें भारत में विज्ञान को कोई नुकसान पहुँचाये बिना बन्द किया जा सकता है। भारत पिछले 85 वर्षों में विज्ञान के क्षेत्र में एक भी नोबेल पुरस्कार विजेता तैयार नहीं कर पाया। देश में वैज्ञानिक माहौल की कमी इसका प्रमुख कारण है जिसमें एक महत्त्वपूर्ण घटक वैज्ञानिक नजरिया है।

(डॉ. पुष्प मित्र भार्गव कोशिका और आणविक जीवविज्ञान केन्द्र, हैदराबाद के संस्थापक निदेशक और सदर्न रीजनल सेन्टर ऑफ काउंसिल फॉर सोशल डेवलपमेंट के अध्यक्ष हैं। लेख तथा व्यंग्य चित्र *द हिन्दू* से साभार।)

अनुवाद–दिनेश कुशवाहा

बर्बरता की ओर बढ़ता देश

--रामप्रकाश अनन्त

मुजफ्फरनगर दंगों के बाद साम्प्रदायिक उन्माद और ध्रुवीकरण के प्रभाव में मई 2014 में भाजपा सत्ता में आ गयी। भाजपा के सत्ता में आने के बाद से ही मनुवादी संगठन आरएसएस और उससे जुड़े तमाम संगठन लगातार धार्मिक उन्माद और साम्प्रदायिक घृणा फैलाने में जुटे हुए हैं। आम आदमी महँगाई से बुरी तरह त्रस्त है। किसान फसल की उचित कीमत न मिलने, खेती तबाह होने और कर्ज के बोझ से त्रस्त होकर आत्महत्या कर रहे हैं। शिक्षित नौजवान और आम मजदूर बेरोजगारी की मार झेल रहे हैं। ऐसे समय में भाजपा सरकार बनने के बाद से ही लव जेहाद, घर वापसी, गोमांस जैसे मुद्दे देश में छाये हुए हैं। आये दिन मुसलमानों, इसाइयों और दलितों के खिलाफ भाजपा नेताओं और साधू-साध्वियों के नफरत भरे, भड़काऊ बयान आ रहे हैं। अपने से भिन्न खान-पान, पहनावा, पूजा पद्धति, विचार या संस्कार रखनेवालों के साथ अभद्र और क्रूरतापूर्ण व्यवहार तथा बात-बात पर पाकिस्तान चले जाने जैसी टिप्पणियाँ रोजमर्रे की घटना हो गयी हैं।

अन्धविश्वास के विरुद्ध लड़ाई लड़नेवाले नरेन्द्र दाभोलकर हिन्दूवादी संगठनों की आँख की किरकिरी बन गये थे। उनकी सरेआम हत्या कर दी गयी। फरवरी 2015 में लेखक गोविन्द पानसरे की हत्या हुयी। अगस्त 2015 में साहित्य अकादमी से सम्मानित कन्नड़ लेखक एमएम कलबुर्गी की हत्या हुई। सितम्बर में दादरी के एक गाँव में लाउडस्पीकर से यह अफवाह फैलायी गयी कि एक मुस्लिम के घर में गाय का मांस है। एक मन्दिर पर भीड़ इकट्ठी हुई जिसने अखलाक नाम के उस व्यक्ति के घर में घुसकर उसकी बर्बरतापूर्वक हत्या कर दी और उसके बेटे को गम्भीर रूप से घायल कर दिया। आठ अक्टूबर को मैनपुरी के करहल कस्बे में एक मरी हुई गाय की खाल उतार रहे लोगों पर भीड़ ने धावा बोला और दो लोगों को बुरी तरह घायल कर दिया। उस घटना में कई पुलिस वाले जख्मी हो गये। कई दुकानों में आग लगा दी गयी। महाराष्ट्र में शिव सेना ने पहले पाकिस्तानी गजल गायक गुलाम अली का कार्यक्रम रद्द करा दिया फिर पाकिस्तान के पूर्व मंत्री कसूरी की पुस्तक पर कार्यक्रम आयोजित करनेवाले भाजपा नेता सुधीन्द्र कुलकर्णी का मुँह काला कर दिया। 16 अक्टूबर को हिमाचल प्रदेश के शिमला में गाय व बैल ले जाते ट्रक ड्राइवर को पीट-पीटकर मार डाला गया। पुलिस ने बजरंग दल पर सन्देह व्यक्त किया है। ऐसी घटनाएँ आये दिन घट रही हैं।

आजादी से पहले से ही आरएसएस देश का साम्प्रदायीकरण करने में लगी है। फिर भी लम्बे समय तक उसे सफलता नहीं मिली। लेकिन जब इंदिरा गांधी ने देश पर इमरजेंसी थोप दी तो जय प्रकाश नारायण के कंधों पर सवार होकर, जनता दल के घटक के रूप में भाजपा सत्ता तक पहुँची। तीन साल में जनता ने इमरजेंसी लगाने वाली इंदिरा गांधी को फिर सत्ता सौंप दी। चौरासी में भाजपा के केवल दो सांसद जीते थे। नवासी के चुनाव के बाद राजनीति में साम्प्रदायिक ताकतें मजबूत हुईं और आखिरकार आज भाजपा पूर्ण बहुमत से सरकार चला रही है। उसके सहजीवी साम्प्रदायिक संगठन आत्मविश्वास से भरे हुए हैं। वे कहीं भी दो सौ चार सौ लोगों को इकट्ठा कर किसी की भी हत्या कराने में सफल हो रहे हैं। आज के हालात देखकर तो लगता है कि वे कुछ साल और सत्ता में रहे और समाज के अन्दर से प्रतिरोध संघर्ष नहीं उभरा तो वे समाज का साम्प्रदायीकरण करने में सफल हो जाएँगे। यह इसलिए भी चिन्ताजनक है कि दुनिया के तमाम देशों की आर्थिक स्थिति खराब हो रही है और ऐसे में दक्षिणपन्थी सम्भावना काफी बढ़ जाती है। दुनिया के कई देशों में आर्थिक संकट का बढ़ना और रंग-बिरंगी फासीवादी शक्तियों का उभार साथ-साथ चल रहा है।

देश में तेजी से साम्प्रदायिक ताकतों के उभरने के तमाम कारण हैं और यहाँ उन सभी पर विचार करना सम्भव नहीं है। मैं यहाँ संक्षेप में दो बातों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहता हूँ। साम्प्रदायिकता का सम्बन्ध लोगों की धार्मिक चेतना, अपने जीवन में उसकी प्राथमिकता और अपने धर्म के प्रति अतिशय आग्रह से है। व्यवस्था का दायित्व यह है कि वह जनता में वैज्ञानिक चेतना का विकास करे। धर्म और समाज की बेहतर समझ ही आस्थावान जनता को साम्प्रदायिक बनने से रोक सकती है। व्यवस्था का दूसरा दायित्व है साम्प्रदायिक शक्तियों पर अंकुश लगाते हुए उनका उन्मूलन करने की दिशा में निरन्तर प्रयास करे। देश में लम्बे समय तक कांग्रेस का शासन रहा। उसने वोट बैंक के लिए कट्टर साम्प्रदायिक ताकतों के बरक्श अपने आप को उदार धार्मिक ताकत के रूप में पेश किया लेकिन कभी साम्प्रदायिक ताकतों को समाप्त करने की कल्पना ही नहीं की। कांग्रेस ही नहीं, बाकी राजनीतिक पार्टियाँ भी इसी नीति का अनुसरण करती रही हैं। यूपी की सपा सरकार इसका दूसरा उदहारण है। पिछले दिनों नागरिक संहिता बिल पर सर्वोच्च न्यायालय ने केन्द्र से जवाब माँगा। जी न्यूज ने इस पर एक चर्चा आयोजित की। पैनल में भाजपा प्रवक्ता, एक संघी, एक विश्व हिन्दू परिषदी, कांग्रेस के प्रवक्ता राशिद

अल्वी और दो मौलाना थे। भाजपा प्रवक्ता ने कहा कि सभी धर्मों के साथ बातचीत करके और एकमत होकर ही सिविल कोड बिल तैयार किया जायेगा। इस पर कांग्रेस के प्रवक्ता ने कहा कि भाजपा साम्प्रदायिक पार्टी है, वह इस पर कैसे बहस कर सकती है। केरल के हिन्दुओं में किसी लड़की पर पहला अधिकार मामा का होता है, उससे काफी अधिक उम्र के व्यक्ति का अधिकार होता है। यही इस देश की विविधता है। उसका सम्मान करना चाहिए। मौलानाओं ने इसका विरोध किया और भाजपा प्रवक्ता से कहा कि आप सभी धर्मों के लोगों को बुलाइये और बहस कराइये। हम देखना चाहते हैं कि आप कैसा सिविल कोड बनाना चाहते हैं। हिन्दू-मुसलमान दोनों के ही बारे में कांग्रेस का यही नजरिया रहा है जो बीजेपी और उस जैसी साम्प्रदायिक ताकतों को खाद-पानी देता रहा है।

दूसरी बात मीडिया के बारे में। आज मीडिया जनचेतना को सर्वाधिक प्रभावित करनेवाले कारकों में से एक है। मोदी के प्रधानमंत्री और केजरीवाल के मख्यमंत्री बनने में मीडिया की बहुत बड़ी भूमिका रही है। यहाँ मैं मीडिया के सवर्णवादी और हिन्दुत्ववादी होने या चौबीसों घन्टे जनता की चेतना में अन्धविश्वास और कूपमण्डूकता भरने पर विचार नहीं करूँगा। जब से मोदी सरकार बनी है तब से कई चैनल पूरी तरह मोदीमय हो गये हैं। वे किसी न किसी रूप में आरएसएस के साम्प्रदायिक एजेंडे को बढ़ा रहे हैं। इण्डिया टीवी की प्रतिबद्धता सब जानते हैं। इधर जी समूह ने जैसे ठान लिया है कि वह मोदी सरकार से इण्डिया टीवी से भी बड़ा पुरस्कार लेकर दिखायेगा। अगर हम पिछले दो महीने के कार्यक्रम ही देख लें तो हमें ऐसा प्रतीत होगा जैसे हम कोई पेड चैनल देख रहे हैं। आज जब आये दिन गाय के नाम पर लोगों को घेरकर मारा जा रहा है, ऐसे में जी न्यूज एक कार्यक्रम लेकर आया- गाय पर तमाशा। इस कार्यक्रम में चैनल ने यह सिद्ध किया कि हिन्दुओं के लिए गाय ही भगवान है और योगी आदित्यनाथ और साक्षी महाराज जैसे महाऋषि लालू जैसे शैतान से उसकी रक्षा कर रहे हैं। न्यूज 24 और आईबीएन 7 जैसे चैनलों में जी न्यूज को पछाड़ने की होड़ लगी है।

अगर आप टीवी देखते हैं तो आप देखेंगे किसी न किसी चैनल पर किसी न किसी मुद्दे को लेकर बहस हो रही होगी जिसमें एक संघी, एक विश्व हिन्दू परिषदी, एक हिन्दू महासभाई, एक ज्योतिषाचार्य और एक धर्म प्रचारक होंगे। उस बहस में कहीं न कहीं हिन्दू संस्कृति और हिन्दू धर्म को बचाने की बात हो रही होगी। कभी लोग भूल गये थे कि हिन्दू महासभा जैसा कोई संगठन भी इस देश में है, लेकिन अब इस संगठन के लोग खुले तौर पर कहते हैं- हाँ हमने ही गांधी को मारा था और यहाँ तक कि गोडसे का मन्दिर बनाने की भी कोशिश करते हैं।

फासीवादी उभार और उसका प्रतिरोध

कन्नड़ लेखक कलबुर्गी की हत्या के बाद उदय प्रकाश ने साहित्य अकादमी पुरस्कार वापस कर दिया उसके बाद गाय का मांस होने की अफवाह के आधार पर दादरी में भीड़ ने घर में घुस कर पचपन वर्षीय अखलाक की बेरहमी से हत्या कर दी और उसके जवान बेटे को बुरी तरह घायल कर दिया इस घटना के बाद नयनतारा सहगल ने अपना साहित्य अकादमी पुरस्कार वापस कर दिया अब रोज साहित्यकार पुरस्कार वापस करने लगे, अकादमी के पदों से इस्तीफा देकर अपना विरोध दर्ज कराने लगे। साहित्यकारों के विरोध प्रदर्शन ने एक आन्दोलन का रूप ले लिया मीडिया में रोज इसके बारे में चर्चा होने लगी। हालाँकि अधिकांश चैनलों का रुख सरकार के पक्ष में ही रहा।

शुरुआत में सरकार चुप रही। मुद्दा मीडिया में आने के बाद सरकार बहुत ही आक्रामक मुद्रा में आ गयी और साहित्यकारों के साथ बिलकुल वैसा ही अमर्यादित व्यवहार करने लगी जैसा उसने बिहार के चुनाव में अपने प्रतिद्वन्दियों के साथ किया उसके नेता साहित्यकारों पर लगातार अपमानजनक टिप्पणियाँ करने लगे। सरकार के सांस्कृतिक मंत्री ने कहा कि लेखकों को लिखना छोड़ देना चाहिए। वित्त मंत्री ने कहा कि यह कागजी विरोध है। कई नेता चैनलों पर बोले कि वे अवार्ड के साथ पैसा भी वापस करें। साहित्यकार पैसा वापस करने लगे, तो कहा कि पुरस्कार से जो सम्मान उन्हें मिला है वह भी वापस करें। अब यही बाकी रह गया है कि सरकार लेखकों को अकादमी बुलाये और कहे कि सरकारी संस्थान ने उन्हें सम्मानित किया था, इसलिए सरकार स्याही पोत कर उन्हें सार्वजानिक रूप से अपमानित करेगी।

सरकार और उसके नेता गन्दी राजनीति पर उतर आये और ऐसी बातें करने लगे जैसी बजरंग दल के लोग अपनी कार्रवाइयों को सही ठहराने के लिए बोलते हैं। पहले भी ऐसी घटनाएँ हुई हैं, लेखकों ने तब अपने पुरस्कार क्यों नहीं लौटाये। तस्लीमा के समय पुरस्कार क्यों नहीं लौटाया चौरासी के दंगों के समय पुरस्कार क्यों नहीं लौटाया भोपाल गैस काण्ड के समय पुरस्कार क्यों नहीं लौटाया इमरजेंसी के समय क्यों नहीं लौटाया जहाँ घटनाएँ घट रही हैं वहाँ दूसरी पार्टियों का शासन है, इत्यादि।

राजनीतिक पार्टियाँ जो गन्दी राजनीतिक बयानबाजी आपस में करती हैं ये सब वैसे ही बयान हैं। ऐसा नहीं है कि लेखकों ने इनका विरोध नहीं किया। इमरजेंसी में सेंसरशिप लागू थी। मौलिक अधिकारों का हनन हुआ। फिर भी लेखकों ने लिखा, प्रतिरोध किया, जेल गये। सिख दंगे हों, तस्लीमा का मुद्दा हो, सभी पर लेखकों ने विरोध जताया है। हाँ इतने बड़े स्तर पर साहित्यकारों द्वारा पुरस्कार वापसी कभी नहीं हुई। लेकिन यह भी सच है कि केवल विरोधी मत रखने के लिए नामी-गिरामी लेखकों की हत्या और भीड़ द्वारा तालिबानियों की तरह पीट-पीटकर मार डालने की घटनाएँ भी तो पहले नहीं हुई थीं।

भाजपा और उसके समर्थकों को लेखकों के इस प्रतिरोध के विरुद्ध तर्क गढ़ने हैं और वे एक से एक बेहूदा तर्क गढ़ते जा रहे हैं। गाली देने से लेकर व्यक्तिगत झूठे आरोप तक लगा रहे हैं। 18 अक्टूबर को एबीपी चैनल के 'साहित्यकार और सरकार' कार्यक्रम में विभिन्न जगहों से तमाम साहित्यकार बुलाये गये। सरकार की ओर से राकेश सिन्हा और संबित पात्रा थे। पहले वे यही तर्क देते रहे कि तब क्यों

नहीं लौटाया इसके बाद संबित पात्रा ने कहा कि जो पुरस्कार लौटा रहे हैं वे दरबारी लेखक हैं, उन्हें कांग्रेस के दरबार में पुरस्कार मिला था, दरबार खत्म हो गया तो उन्होंने पुरस्कार वापस कर दिये। तभी मुनव्वर राणा ने घोषणा कर दी कि वे अपना साहित्य अकादमी सम्मान वापस कर रहे हैं। मुनव्वर राणा को पिछले वर्ष पुरस्कार मिला था। मुनव्वर राणा अच्छे शायर हैं। उनकी राजनीतिक समझ बहुत स्पष्ट नहीं है, यह उनके तमाम बयानों से स्पष्ट है। पुरस्कार लौटाने से पहले वे पुरस्कार लौटाने का विरोध कर रहे थे। जब दादरी की घटना घटी थी, तब से ही वे इसे एक आतंकवादी घटना बता रहे थे। वे पुरस्कार वापसी की घोषणा करते समय काफी भावुक हो गये। उस भावुकता में उन्होंने वह सब बोल दिया जो वे इस दौरान महसूस करते रहे थे। उन्होंने कहा कि सारे लेखकों को बैठाकर तय कर लीजिए दादरी, कालबुर्गी की हत्या आतंकवाद नहीं है तो आतंकवाद क्या है। आप इन्हें रोकने के बजाय कहते हैं लेखक इसके दरबारी हैं, उसके दरबारी हैं, मोदी विरोधी हैं। अगर आपको गाय, भैंस बकरी ही करनी है तो पुलिस हटा लीजिए आरएसएस ही देश सम्भाल ले। एक गैर-राजनीतिक व्यक्ति की अपनी सीमा होती हैं। ऐसा व्यक्ति भी अगर फासीवाद की बढ़ती घटनाओं को आतंकवाद के रूप में महसूस करता है तो वह समाज के लिए चिन्ता का विषय होना चाहिए। जब कोई तर्क नहीं बचा तो वे कहने लगे कांग्रेस और वामपन्थी संसदीय राजनीति हार गये हैं, इसलिए मोदी के विरुद्ध षडयंत्र कर रहे हैं। इसके बाद राकेश सिन्हा बिना वजह चीखने लगे और उनकी इस हरकत पर गिरिराज किशोर को कई बार अपने स्थान से उठकर आना पड़ा। जो भाजपा से सहमत नहीं हैं उनके साथ भाजपा कैसी सोच रखती है यह पता चलता है।

लेखकों के विरुद्ध भाजपा ही नहीं बहुत से लेखक भी हैं। यह स्वाभाविक भी है कि किसी मुद्दे पर सभी लेखक एकमत नहीं हो सकते। लेखक समाज से सम्बद्ध होता है। समाज जाति, धर्म और वर्गों में बँटा हुआ है। लेखक के साथ व्यक्तिगत लाभ-हानि भी जुड़े होते हैं। जो लेखक जाति, धर्म और वर्गीय अन्तर्विरोधों को जहाँ तक हल कर लेते हैं वहीं से उनकी वैचारिक स्थिति तय होती है। कुछ लेखक जिन्हें सत्ता से पद, पुरस्कार या दूसरे लाभ लेने की आशा है वे इस प्रतिरोध का मजाक उड़ा रहे हैं। चुपचाप सत्ता का लाभ लेने वाले लेखकों का एक वर्ग हर समय में मौजूद रहता है। उनकी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा ही उनके लेखन की संचालक शक्ति होती है। कुछ लेखक आरएसएस के हिन्दुत्ववादी एजेंडे से गहरे प्रभावित हैं और देश में दोबारा संवैधानिक व्यवस्था की जगह मनुवादी व्यवस्था लागू करने के प्रबल समर्थक हैं। इस तरह की मानसिकता के लोग उच्च शिक्षा प्राप्त डॉक्टर-इंजीनियर हों, पार्क में प्रेमी युवक-युवती को पीटते लोग हों, गाय के नाम पर किसी की घेरकर हत्या करनेवाले लोग हों या लेखक हों, उनके सोचने का स्तर एक समान रहता है। यहाँ तक कि उनकी अश्लील भाषा में भी कोई अन्तर नहीं होता। फेसबुक देखेंगे तो यह स्पष्ट रूप से पता चलेगा। देश के एक प्रसिद्ध हड्डी रोग विशेषज्ञ पिछले दो साल से फेसबुक पर ऐसा ही हुड़दंग मचाये हुए हैं। लंदन में रहनेवाले और अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कार बाँटने वाले एक लेखक कलबुर्गी की हत्या को इसलिए जायज ठहराते हैं कि उन्होंने मूर्ति का अपमान किया। उनकी ही हमवतन एक लेखिका जो अपने आप को वैज्ञानिक की पत्नी बताती है, दादरी हत्या कांड पर लिखती है कि उसके लिए गाय की मौत में और आदमी की मौत में कोई अन्तर नहीं है। वामपंथियों और कांग्रेसियों का सर्वनाश हो जायेगा। ये दोनों लेखक भयंकर से भयंकर घटना घटने पर उसमें मोदी का पक्ष आरोपित करते हैं। केवल ये दो लेखक नहीं हैं। एक समूह ऐसे लेखकों का है। कुछ ऐसे भी हैं जो इतनी मुखरता से नहीं लिखते हैं, पर लाइक और कमेंट के माध्यम से ऐसी बातों को समर्थन देते हैं।

अगर भारत में फासीवाद की स्थिति मजबूत होती है तो कुछ प्रतिष्ठित लेखक भी खुलकर उनके पक्ष में आ सकते हैं। इतिहास से भी हमें यही पता चलता है। फासीवाद का सबसे मजबूत दौर हिटलर और मुसोलिनी के समय का है। हिटलर 1933 में जर्मन का चांसलर बना। हर्बर्ट जॉर्ज वेल्स उस समय के सबसे अधिक प्रतिभाशाली लेखकों में था। इतिहास, समाज शास्त्र, साहित्य और विज्ञान लेखन पर उसकी पकड़ थी। उसकी गिनती प्रगतिशीलों में की जाती थी। वह समाजवाद का समर्थक था, लेकिन वर्ग संघर्ष से बहुत डरता था। वह बिना वर्ग संघर्ष के गैर-मार्क्सवादी समाजवाद चाहता था। 1923 में लेबर पार्टी के प्रत्याशी के रूप में उसने लन्दन यूनिवर्सिटी से चुनाव लड़ा। 1932 में उसने ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में कहा था-- तानाशाही प्रवृत्तियों के विरुद्ध अपने अन्दर आत्म उत्साह और आत्मत्याग को पैदा करने के लिए प्रगतिशील नेताओं को आवश्यक रूप से उदार फासीवादी होना चाहिए। लेखक ही नहीं फिलिप लेनार्ड और स्टार्क जैसे नोबेल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिक तक हिटलर के नाजीवाद के खुले समर्थक बन गये थे।

जो लेखक पुरस्कार लौटकर, अकादमी से अलग होकर अपना विरोध प्रकट कर रहे हैं उनका विरोध यह कहकर करना कि वे नाटक कर रहे हैं, चर्चा पाने के लिए कर रहे हैं, गलत है। चर्चा पाने के लिए इतनी बड़ी संख्या में लेखक पुरस्कार वापस नहीं कर सकते। विरोधी, मुनव्वर राणा की पुरस्कार वापसी को सबसे नाटकीय बता रहे हैं। सुना है उन्हें प्रधानमंत्री ने बुलाया है। जिस तरह के उनके बयान आ रहे हैं, बहुत सम्भव है वे पुरस्कार वापस ले लें। यह उनकी राजनीतिक नासमझी हो सकती है या फिर उनका अवसरवाद हो सकता है। लेकिन पुरस्कार वापस करते समय उन्होंने जो कारण गिनाये वे नाटकीयता का प्रदर्शन नहीं थे। भले ही भावावेश में वे बोल गये हों, लेकिन कारण वे ही थे जिन्हें वे महसूस कर रहे थे। कई लेखकों को लग रहा है कि इस समय देश में जो हो रहा है वह फासीवादी आहट है पर इसका प्रतिरोध पुरस्कार लौटने से हो सकता है, ऐसा उन्हें नहीं लगता। या उन्होंने अपनी राजनीतिक समझ के साथ संघर्ष किया और उन्हें लगने लगा कि यह प्रतिरोध का एक तरीका हो सकता है और उन्होंने पुरस्कार वापस कर दिया। पिछले डेढ़ महीने से पुरस्कार वापसी का सिलसिला जारी है वह लेखकों की अपनी समझ के साथ संघर्ष का ही नतीजा है।

दरअसल पिछले दो साल में जिस तरह धार्मिक अन्धविश्वास के विरुद्ध लड़ने वाले नरेन्द्र दाभोलकर, लेखक पानसरे और कलबुर्गी की हत्या हुई, लेखकों को डराया धमकाया गया, दादरी में एक व्यक्ति को घर में घुसकर मार दिया गया और आये दिन ऐसी घटनाएँ घट रही हैं, वे किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को विचलित करने के लिए काफी हैं। लेखक अपने आप को असुरक्षित महसूस कर रहे हैं। लगातार लेखकों पर जो हमले बढ़ रहे हैं उसने उनके भय को और घना कर दिया है कि कब किसका नम्बर आ जाये कुछ पता नहीं।

लेखकों का विरोध मौजूदा सरकार को उन विभिन्न आतंकवादी संगठनों के विरुद्ध जो लेखकों की हत्या कर रहे हैं, उन पर हमले कर रहे हैं और समाज में भय का वातावरण बना रहे हैं, कार्रवाई करने के लिए बाध्य कर पाता है या नहीं, यह तो विरोध का जो वातावरण बनेगा उसी से तय होगा, पर अब तक के प्रतिरोध से यह तो स्पष्ट होता ही है कि सरकार पर लेखकों के इस प्रतिरोध का असर पड़ा है और वह प्रतिरोध को कुचलने की रणनीति बनाने के लिए सक्रिय हुई है।

23 अक्टूबर को विभिन्न भाषाओं के लेखकों ने मौन जुलूस के रूप में विरोध प्रदर्शन किया उसके जवाब में सरकार के सहयोगी संगठन अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद ने लेखकों के मौन प्रदर्शन के विरुद्ध उग्र प्रदर्शन किया। इसके लिए आनन-फानन में जनमत (जॉइंट एक्शन ग्रुप ऑफ नेशनलिस्ट माइंडेड आर्टिस्ट एंड थिंकर्स) नामक एक एक्शन ग्रुप तैयार किया गया जिसमें एबीवीपी के छात्रों के अतिरिक्त नेशनलिस्ट माइंडेड दो लेखक कमल किशोर गोयनका और नरेन्द्र कोहली तथा संगीत कला अकादमी की कार्यकारी सदस्य, गायिका मालिनी अवस्थी थीं। भगवा रंग के बैनर पर लिखा था 'हे ईश्वर! राष्ट्र विरोधियों को सन्मति दो।' सरकार और उसके समर्थकों ने यह स्पष्ट कर दिया कि देश में अब दो ही तरह के लेखक होंगे-- नेशनलिस्ट माइंडेड और राष्ट्र विरोधी। तीसरे तरह के लेखक चंद्रकांता की परम्परा के होंगे जो नेशनलिस्ट माइंडेड लेखकों के साथ खड़े होकर कहेंगे कि वे दोनों में से किसी के साथ नहीं हैं।

नरेन्द्र कोहली का कहना था कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर रोक तो इमरजेंसी के समय थी, इस समय कहाँ है। महाभारत और रामायण के प्रकाण्ड विद्वान कोहली जी कैसे भूल गये कि इंदिरा गांधी ने जब संविधान की धारा 352 (1) का दुर्पयोग करते हुए देश पर इमरजेंसी थोप दी, अभिव्यक्ति पर सेंसर लगा दिया, फिर भी लेखकों ने अपना विरोध दर्ज किया बदले में सरकार ने उन्हें जेल में डाल दिया लेकिन उस दौरान भी ऐसे उदाहरण देखने को नहीं मिलते कि किसी लेखक ने अपने विचार व्यक्त किये तो उसे गोली मार दी, हाथ काटने का प्रयास किया या उस पर आक्रमण कर दिया गया

दाभोलकर, पानसरे और कलबुर्गी की हत्या इसलिए कर दी गयी क्योंकि धार्मिक आतंकवादियों को उनके विचार पसन्द नहीं थे। अनंतमूर्ति को धमकिया मिलीं। दो महीने पहले पत्रकार निखिल वागले ने बताया था कि उन्हें सनातन संस्था की ओर से धमकिया मिल रही हैं जिसकी शिकायत उन्होंने पुलिस में ही है। आरएसएस और बीजेपी ने तमिल लेखक पेरुमल मुरुगन के विरुद्ध भारी प्रदर्शन किया उनके विरुद्ध हिंसा हुई और इसी वर्ष जनवरी में मजबूर होकर उन्हें बतौर लेखक अपनी की मौत की घोषणा करनी पड़ी। कुछ समय पहले ही केरल के लेखक एम एम बशीर को का अखबार में रामायण पर अपना स्तम्भ बन्द करने पर मजबूर होना पड़ा क्योंकि हिन्दू कट्टरपंथियों का कहना था कि एक मुसलमान रामायण पर नहीं लिख सकता। हम मध्ययुग से भी बुरी हालत में हैं, जहाँ रसखान और जायसी हिन्दुओं के देव-पितर का गुणगान करके सराहे जाते थे। कलबुर्गी की हत्या से पहले कन्नड़ लेखक गिरड्डी गोविन्दराज और कवि चेन्नावीरा के घर बर्बाद करने की धमकिया रामसेना की ओर से मिल रही थीं। मैसूर यूनिवर्सिटी के प्रो. के. एस भगवान को हिन्दूवादी संगठनों द्वारा लगातार धमकियाँ मिलती रहती हैं। वह भी तब जब उन्हें सुरक्षा मिली हुई है। भुवित शेट्ठी जो अपने आप को बजरंग दल, बंटवाल यूनिट का संयोजक बताता है और बीजेपी में मजबूत पकड़ रखता है उसने 31 अगस्त को ट्वीट किया-- "देन, इट वाज यु आर अनन्तमूर्ति एंड नाऊ इट्स एम एम कुल्बर्गी। मोक हिन्दुइज्म एंड डाई अ डॉग्स डेथ। एंड डियर के एस भगवान, यू आर नेक्स्ट।'' दक्षिण कन्नड़ पुलिस ने रिपोर्ट दर्ज कर उसे गिरफ्तार किया अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के ये कुछ उदहारण हैं। जिस दिन नरेन्द्र कोहली लेखकों के विरोध प्रदर्शन के विरोध में प्रदर्शन कर रहे थे उस दिन की खबर है कि कर्नाटक के युवा दलित लेखक हुचंगी प्रसाद को जाति व्यवस्था के विरुद्ध लिखने पर हिन्दुत्ववादियों ने उन पर हमला कर दिया और हाथ काटने की कोशिश की। उन्हें जंगल में भागकर जान बचानी पड़ी।

भाजपा, आरएसएस और उसके नेशनलिस्ट माइंडेड आर्टिस्ट और लेखकों के पास तीन तर्क हैं। पहला, लेखकों ने हस्ताक्षर करके मोदी को हराने की अपील की थी। दूसरा, कर्नाटक में कांग्रेस की और यूपी में सपा की सरकार है। तीसरा, भोपाल गैस कांड और सिख दंगों के समय पुरस्कार क्यों नहीं लौटाये। तथ्य यह है कि विरोध करने वाले लेखकों में उन लेखकों की संख्या बहुत कम है जिन्होंने मोदी के विरुद्ध अपील की थी। आजादी के मात्र साढ़े पाँच महीने बाद आजाद भारत की पहली सबसे बड़ी आतंकवादी घटना महात्मा गांधी की हत्या थी। भाजपा और उसके नेशनलिस्ट माइंडेड लेखक कह सकते हैं कि इसके लिए नेहरू जिम्मेदार हैं, क्योंकि तब उनकी सरकार थी। हत्यारा जिनसे सम्बन्ध रखता था, आज वे भारत रत्न बनने की स्थिति में हैं तो वास्तव में कांग्रेस काफी हद तक उसके लिए जिम्मेदार है। उसने धार्मिक आतंकवादी गतिविधियों को रोकने का गम्भीर प्रयास नहीं किया

1984 भारतीय इतिहास में भयावह मानवीय क्रूरता के रूप में दर्ज है। 31 अक्टूबर को इंदिरा गांधी की हत्या हुई। उसके बाद सिखों का कत्लेआम हुआ जिसमें करीब 2800 सिख मारे गये। दंगे भड़काने में कुछ कोंग्रेसी नेताओं का हाथ था। इस अमानवीय घटना को हुए महीना भर भी नहीं हुआ था कि दो नवंबर को भोपाल की यूनियन कार्बाइड फैक्ट्री में रिसाव हो गया और उसमें करीब 3800 लोग तत्काल मारे गये व 56000 से अधिक

घायल हुए। समय-समय पर और भी अमानवीय घटनाएँ घटती रही हैं। 1989 में बिहार के भागलपुर में विश्व हिन्दू परिषद ने ईंट पूजन किया हिन्दू छात्रों को मारने की दो अफवाहें उड़ी। वहाँ दंगा हो गया और करीब 900 लोग उसमें मारे गये। 2002 में गुजरात में दंगे हुए जिसमें मोदी सरकार के मंत्री मौके पर दंगों में लिप्त रहे। इतनी बड़ी घटनाओं में साहित्यकारों ने अकादमी सम्मान वापस नहीं किये।

साहित्यकारों ने लेखकों की हत्या, उन्हें मिलने वाली धमकिया और धर्म के नाम पर बढ़ती असहिष्णुता के विरुद्ध विरोध प्रकट किया है। यह कोई मरने वालों की शोक-श्रद्धांजली में पुरस्कार लौटाने की बात नहीं है। इसलिए बड़ी घटना या छोटी घटना पर पुरस्कार न लौटाने जैसे सवाल बेमानी हैं। मूल सवाल घटनाओं की प्रवृत्ति और उसके खतरों को लेकर है।

हमारा देश पूँजीवादी है और पूँजीपतियों के फायदे के लिए उनकी निर्मम लूट-पाट पर सरकारें कान में तेल डाले पड़ी रहती हैं। तमाम फैक्टरियों में गरीब मजदूर उनकी लापरवाहियों के कारण अपनी जान से हाथ धोते रहते हैं। भोपाल में भी यही हुआ था। चूँकि इस फैक्ट्री का सम्बन्ध जहरीली गैस से था इसलिए वह भयावह मानव संहार के रूप में सामने आया पूँजीपतियों के प्रति समर्पण भाव रखना और अपराधी पूँजीपतियों को संरक्षण देना इस व्यवस्था का चरित्र है। किसी भी पार्टी की सरकार हो वे यही करती हैं। काँग्रेस ने एँडरसन को भगा दिया जब भाजपा सत्ता में आई और आडवाणी गृहमंत्री बने तो उन्होंने एँडरसन के विरुद्ध धारा 304 (ठ) (मानव संहार) को धारा 304 (ब) (लापरवाही) में परिवर्तित करा दी, जिसके विरुद्ध सीबीआई कोर्ट में भी गयी। इस धारा में एँडरसन को भारत लाना सम्भव नहीं था। (सन्दर्भ, फर्स्ट पोस्ट 16.11.13)। अरुण जेटली ने उसे क्लीन चिट दी। घटना के समय बीजेपी सत्ता में होती तो वह एँडरसन को भगाती और काँग्रेस वह करती जो बीजेपी कर रही है। ताजा उदहारण देख सकते हैं। सऊदी का राजनयिक हमारे देश में दो महिलाओं का बलात्कार करता रहा और बात मीडिया में आ गयी तो सरकार ने चुपके से उसे भगा दिया

अभी जो कुछ देश में चल रहा है वह पूर्व सरसंघचालक गोलवरकर के मार्गदर्शन का प्रतिफलन है। देश को हिन्दू राष्ट्र बनाना है, इसकी घोषणा आरएसएस ने कर दी है। उसमें अल्पसंख्यकों की स्थिति क्या होगी, दलितों की क्या होगी, यह निश्चित है। इन सब को कैसे संचालित किया जाना है, यह भी पूर्व नियोजित है। धार्मिक अन्धविश्वासों के विरुद्ध बोलने पर लेखकों को गोली मारना, उन्हें धमकी देना, जाति व्यवस्था के विरुद्ध लिखने पर जान से मारने, हाथ काटने की कोशिश करना, गाय के नाम पर दंगा करना या लोगों को घेर के मारना ये सब इसी नियोजन का हिस्सा हैं। लेखक किसी न किसी रूप में इसे चिह्नित कर रहे हैं और उसके विरुद्ध खुलकर अपना विरोध प्रकट कर रहे हैं।

दुश्मन को पहचाने

भाजपा द्वारा यह कहा जा रहा है कि जब दाभोलकर की हत्या हुई तब काँग्रेस की सरकार थी और दादरी की घटना हुई है वहाँ सपा की सरकार है। इसलिए साहित्यकारों को सपा का विरोध करना चाहिए। कुछ लेखक भी ऐसा मानते हैं। गोविन्द मिश्र ने अपने बयान में लिखा है-- दोनों घटनाएँ (कलबुर्गी और दादरी) उन प्रान्तों में हुईं जहाँ दूसरी पार्टियों की सरकारें हैं, दूसरे ''लॉ एंड आर्डर'' प्रान्त सरकारों के कार्यक्षेत्र में आता है। वे उससे भी आगे जा कर लिखते हैं- विरोध करने का तरीका भी भाइयों ने क्या ढूँढ़ा- अकादमी पुरस्कार लौटा दो। इन्हीं हत्याओं पर आपको क्यों सूझा। पहले किसानों की आत्महत्याएँ हुईं। कितने हादसों में बड़ी संख्या में लोग मारे गये।... तब क्यों नहीं सूझा।

गोविन्द मिश्र खुद नौकरशाह रह चुके हैं। किसान क्यों आत्महत्या कर रहे हैं और वे कैसे रुक सकती हैं, वे बेहतर जानते हैं। किसान ही क्यों, इस देश में तीस प्रतिशत लोगों का जीवन मौत से जूझने जैसा ही है। लाखों लोग मामूली सी बीमारियों से सरकारी अस्पतालों में दम तोड़ देते हैं। किसान ही क्यों वे उन सब के लिए भी उठ खड़े होते। काश वे उस स्थिति में होते कि व्यवस्था में नीतिगत परिवर्तन ला सकें।

लेखकों का बड़ी संख्या में धार्मिक असहिष्णुता के विरुद्ध आना आश्वस्त करता है कि वे समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी महसूस करते हैं और मानते हैं कि मानवता विरोधी इस माहौल को रोकने में वे कोई भूमिका निभा सकते हैं। प्रतिरोध की शुरुआत के लिए यह जरूरी है। उसके बाद जरूरी है दुश्मन की सही पहचान करना और यह तय करना कि वे क्या पाने के लिए प्रतिरोध कर रहे हैं। दादरी की घटना उत्तर प्रदेश में घटी। दादरी के बाद मैनपुरी में बड़ा बवाल गाय के नाम पर ही हुआ और अब मुहर्रम पर उत्तर प्रदेश के सात जिलों में एक साथ तनाव पैदा किया गया है। काँग्रेस से लेकर सपा तक हर राजनीतिक पार्टी ने फासीवाद के उभार में सहयोग किया है। वह वीडियो याद कीजिए जब हेट स्पीच के केस में बरी होने पर पत्रकार वरुण गाँधी से सवाल पूछते हैं कि क्या सरकार ने उनके विरुद्ध अपील न कर उन्हें बरी कराने में सहायता की है? और वरुण गाँधी मुस्कराते हुए चले जाते हैं। बिहार में महागठबन्धन और एनडीए के बीच मुकाबला हुआ। आज भाजपा फासीवाद के प्रतीक के रूप में उभरी है, इसमें नितीश का भी सहयोग रहा है। फिर भी एनडीए का हारना फासीवादी शक्तियों को कमजोर करने की दिशा में एक कदम है। अगर फासिस्ट ताकतों से लड़ना है तो पहला निशाना फासिस्ट ताकतों को ही बनाना होगा। उसके बाद उनकी सहयोगी ताकतों को सवालों के घेरे में लाना होगा। जैसा मीडिया माहौल बनाता रहा है कि हर दल राजनीति कर रहा है, राजनीति नहीं होनी चाहिए। ऐसे मुद्दों पर हर दल की राजनीति को स्पष्ट करना जरूरी है।

लेखकों, कलाकारों पर हमले होना पुरानी समस्या है। पिछले दो साल में तो यह बात आम हो गयी है और फासीवादी ताकतों के हौसले बढ़ गये हैं। मेरे ख्याल से लेखकों को इस दिशा में आवाज उठानी चाहिए कि अगर किसी लेखक, कलाकार से किसी समुदाय की भावनाओं को ठेस पहँचती है तो वह कानूनी कार्रवाई कर सकता है, लेकिन कानून को

अपने हाथ में लेकर हमला करना आतंकवादी कार्रवाई मानी जानी चाहिए और इसके लिए आतंकवाद विरोधी कानून के तहत ही कार्रवाई होनी चाहिए। अगर कोई व्यक्ति किसी धार्मिक संगठन से जुड़ा है तो उस संगठन की जाँच होनी चाहिए। जाँच एजेंसी सरकार को रिपोर्ट न करके न्यायलय को रिपोर्ट करे। सामूहिक धार्मिक बर्बरता से लेखक, कलाकारों को ही नहीं, आम आदमी को भी ऐसी ही कानूनी सुरक्षा मिलनी चाहिए। जैसे चुनाव के दौरान नेताओं की हेट स्पीच पर चुनाव आयोग संज्ञान लेता है, ऐसा संज्ञान चुनाव न होने के दौरान भी लिया जाना चाहिए।

इस प्रतिरोध से लेखकों को क्या हासिल होगा इससे ज्यादा जरूरी है प्रतिरोध की भावना को जगाये रखना और लेखन से लेकर दूसरी गतिविधियों तक प्रतिरोध जारी रखना। पेरियार और अम्बेडकर ने जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष किया आज भी जातिवाद है और मजबूत स्थिति में है। वह लड़ाई बन्द तो नहीं हो गयी। अभी भी उसके विरुद्ध लोग संघर्ष कर रहे हैं, सामाजिक गतिविधियाँ चला रहे हैं, लिख रहे हैं। फासिस्ट उन पर प्रतिबन्ध लगवा रहे हैं, उन्हें मार रहे हैं, उनके हाथ काट रहे हैं, हमले कर रहे हैं। लेकिन इससे लड़ाई रुक तो नहीं जायेगी।

मैं पुरस्कार क्यों लौटा रही हूँ

--अरुंधति रॉय

हालाँकि मैं यह नहीं मानती कि पुरस्कार हमारे काम को मापने का कोई पैमाना होते हैं, मैं लौटाये गये पुरस्कारों के बढ़ते ढेर में 1989 में सर्वश्रेष्ठ पटकथा के लिए जीता गया अपना राष्ट्रीय पुरस्कार जोड़ना चाहूँगी। इसके अलावा, मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि मैं यह पुरस्कार इसलिए नहीं लौटा रही हूँ क्योंकि मैं मौजूदा सरकार द्वारा पोसी जा रही उस चीज को देखकर 'हैरान' हूँ जिसे ''बढ़ती असहिष्णुता'' कहा जा रहा है। सबसे पहले तो यह कि इनसानों की पीट-पीट कर हत्या, उन्हें गोली मारने, जलाकर मारने और उनकी सामूहिक हत्या के लिए ''असहिष्णुता'' गलत शब्द है। दूसरे, भविष्य में क्या होने वाला है इसके कई संकेत हमें पहले ही मिल चुके थे, इसलिए इस सरकार के भारी बहुमत से सत्ता में आने के बाद जो कुछ हुआ उसके लिए मैं हैरान होने का दावा नहीं कर सकती। तीसरे, ये भयावह हत्याएँ एक गम्भीर बीमारी का लक्षण भर हैं। जीते-जागते लोगों की जिन्दगी नर्क बनकर रह गयी है। करोड़ों दलितों, आदिवासियों, मुसलमानों और ईसाइयों की पूरी-पूरी आबादी दहशत में जीने के लिए मजबूर है कि क्या पता कब और किस तरफ से उनपर हमला बोल दिया जाये।

आज हम एक ऐसे देश में रह रहे हैं जिसमें नयी व्यवस्था के ठग और गिरोहबाज जब ''अवैध वध'' की बात करते हैं तो उनका मतलब कत्ल कर दिये गये जीते जागते इनसान से नहीं, मारी गयी एक काल्पनिक गाय से होता है। जब वे घटनास्थल से ''फॉरेंसिक जाँच के लिए सबूत'' उठाने की बात करते हैं तो उनका मतलब मार डाले गये आदमी की लाश से नहीं, फ्रिज में मौजूद भोजन से होता है। हम कहते हैं कि हमने प्रगतिष की है लेकिन जब दलितों की हत्या होती है और उनके बच्चों को जिन्दा जला दिया जाता है तो हमला झेले, मारे जाने, गोली खाये या जेल जाये बिना आज कौन सा लेखक बाबासाहब आम्बेडकर की तरह खुलकर कह सकता है कि, ''अछूतों के लिए हिंदुत्व संत्रासों की एक वास्तविक कोठरी है''? कौन लेखक वह सब कुछ लिख सकता है जो सआदत हसन मंटो ने ''अंकल सैम के लिए पत्र'' में लिखा? इस बात से फर्क नहीं पड़ता कि हम कही जा रही बात से सहमत हैं या असहमत। यदि हमें स्वतंत्र अभिव्यक्ति का अधिकार नहीं होगा तो हम बौद्धिक कुपोषण से पीड़ित एक समाज में, मूर्खों के एक देश में बदलकर रह जायेंगे। पूरे उपमहाद्वीप में पतन की एक दौड़ चल रही है जिसमें नया भारत भी जोशो खरोश से शामिल हो गया है। यहाँ भी अब सेंसरशिप भीड़ को आउटसोर्स कर दी गयी है।

मुझे बहुत खुशी है कि मुझे (काफी पहले के अपने अतीत से कहीं) एक राष्ट्रीय पुरस्कार मिल गया है जिसे मैं लौटा सकती हूँ क्योंकि इससे मुझे देश के लेखकों, फिल्मकारों और शिक्षाविदों द्वारा शुरू किये गये एक राजनीतिक आन्दोलन का हिस्सा होने का मौका मिल रहा है। वे एक प्रकार की वैचारिक क्रूरता और हमारी सामूहिक बौद्धिकता पर हमले के विरुद्ध उठ खड़े हुए हैं। यदि इसका मुकाबला हमने अभी नहीं किया तो यह हमें टुकड़े-टुकड़े कर बहुत गहरे दफन कर देगा। मेरा मानना है कि कलाकार और बुद्धिजीवी इस समय जो कर रहे हैं वह अभूतपूर्व है जिसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं है। यह अलग साधनों से की जा रही राजनीति है. इसका हिस्सा होना मेरे लिए गर्व की बात है. और आज इस देश में जो हो रहा है, उसपर मैं बहुत शर्मिंदा भी हूँ।

पुनश्च : रिकार्ड के लिए यह भी बता दूँ कि 2005 में कांग्रेस की सत्ता के दौरान मैंने साहित्य अकादमी सम्मान ठुकरा दिया था। इसलिए कृपया कांग्रेस बनाम भाजपा वाली पुरानी बहस से मुझे बख्शे रहें। अब बात इस सबसे काफी आगे निकल गयी है। धन्यवाद!

(अनुवाद : मनोज पटेल)

साहित्य

गुदड़ी के ढेर में छिपी मूल्यवान कविताएँ

--देवेन्द्र आर्य

वीरेन डंगवाल भाषा-कवि हैं, भाषा-सघन नहीं। बेहतर होगा ये कहना कि वे अनुभव की भाषा के कवि हैं। कभी भाषा के अनुभव से कविताएँ लिखते हैं, कभी अनुभव से प्राप्त भाषा में कविताएँ लिखते हैं। मोटे तौर पर तीन तरह की भाषा उनके यहाँ मिलती है-

पहली, साधारण बोलचाल की भाषा, जिसका उदाहरण *'इतने भले नहीं बन जाना साथी'* कविता है।

गदहा बनने में लगा दी अपनी सारी कूवत सारी प्रतिभा
किसी से कुछ लिया नहीं न किसी को कुछ दिया
ऐसा ही जिया जीवन तो क्या जिया?

दूसरे तरह की भाषा वहाँ मिलती है जहाँ कविताएँ गीत के आकार में ढलती हैं। जैसे *'आएँगे उजले दिन जरूर आएँगे'* कविता। इसी क्रम में कई बार वे लोक गीतों से सीधे उठायी गयी देशज भाषा, *'उधो मोहि ब्रज'* जैसी कविताओं में प्रयोग करते हैं--

गोड़ रही माई ओ मउसी उ देखौ
आपन-आपन बालू के खेत
कहाँ को बिलाए ओ बेटवा बताओ
सिगरो बस रेत ही रेत

तीसरे तरह की भाषा वह है जब उन पर प्राध्यापकीय प्रभाव गाढ़ा होता है। तब वे संस्कृतनिष्ठ, तत्सम शब्दावलियों वाली आनुप्रासिक भाषा चुनते हैं। ऐसा तब होता है जब वे आम जन के लिए नहीं, गम्भीर और कोरे-धराऊँ पाठकों तथा साहित्याचार्यों के लिए लिखते हैं। उदाहरण के लिए कविता- *'फैजाबाद-अयोध्या'* जिसमें निराला की *'राम की शक्ति पूजा'* की तर्ज पर वे राम की पीड़ा व्यक्त करते हैं। भाषा की उर्वरता वीरेन को टिहरी गढ़वाल से चलकर सहारनपुर, कानपुर, इलाहबाद, बरेली तक के रहवास में अर्जित हुई है। उन्होंने इन सभी शहरों से सम्बन्धित कविताएँ भी लिखी हैं। विचित्र लगेगा कि रचनात्मक रूप से आम जन बल्कि शोषित-पीड़ित जन से जुड़ा यह कवि सामाजिक-आर्थिक हैसियत में कभी साधारण नहीं रहा। पिता प्रथम श्रेणी अधिकारी थे। शहर भेज के पढ़ाई का खर्च उठा सकने में समर्थ। 1971 में वे बरेली कॉलेज में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हुए। पत्नी भी शिक्षिका। अमर उजाला में पत्रकारिता भी की। सलाहकार की भूमिका में रहे। यानी अच्छा खाते-पहनते, सम्मानित पेशा और प्रचार-प्रसार के केन्द्र में बैठे वीरेन के लिए कविता-कर्म और दूर-दूर तक उसकी सुगन्ध का अनुभव कभी मोहताजी का हिस्सा नहीं रहा।

वीरेन डंगवाल के कुल चार संग्रह उपलब्ध हैं। *'इसी दुनिया में'* उनका पहला संग्रह है जिसके लिए उन्हें 1992 का रघुवीर सहाय स्मृति सम्मान मिला। दूसरा संग्रह *'कवि ने कहा'* शृंखला के तहत आया और चौथा- *'स्याही ताल'* यानी 48 वर्ष की उम्र में जब पहला संकलन आया था, तब से 68 वर्ष की उम्र तक, मौलिक रूप से उनके कुल तीन संग्रह आये। काव्य प्रकाशन संकोची यह कवि इन्हीं तीन संग्रहों के बूते हिन्दी की मुख्यधारा का महत्त्वपूर्ण कवि रेखांकित हो चुका है।

वीरेन उन कवियों में हैं जिनके यहाँ उनकी स्थानीयता सुरक्षित रहती है। वे जबरदस्ती ग्लोबल बनने की कवायद नहीं करते। इस मामले में वे अपने महत्त्वपूर्ण समकालीन नामी कवि मित्रों से भी अलग दिखाई पड़ते हैं। उनकी कविताओं में एक खास किस्म का पहाड़ी स्वाभिमान, संघर्षशीलता और अल्लहड़पन दिखाई पड़ता है। पहाड़ों की जिन्दगी का संघर्ष, मैदान में बस जाने के बाद भी उन्हें बिसरा नहीं। वरना वे *'दस हजार फीट पर कविता'* तथा *'राम सिंह'* जैसी अद्‌भुत कविताएँ न लिख पाये होते।

ठीक है अब जरा आँखें बन्द करो रामसिंह
और अपने पत्थर की छत से
ओस के टपकने की आवाज याद करो...
...आदमी का हर पल मौसम और पहाड़ों से लड़ना
कभी न भरनेवाले जख्म की तरह पेट...
...पहला वर्णाक्षर लिख लेने का रोमाँच
और तुम्हारी माँ का कलपना याद करो
याद करो कि वह किसका खून होता है
जो उतर आता है तुम्हारी आँखों में
गोली चलने से पहले हर बार? (राम सिंह)

वे पहाड़ के संघर्ष और त्रासदी को ही नहीं पकड़ते हैं, उनकी निगाह से पहाड़ का रोमांस भी नहीं छिप पाता। उनकी कविता 'नैनीताल में दीवाली' का वह रोमांचक क्षण याद करें जब सारा घर-टोला दीपावली के पटाखे छोड़ रहा है और घर आये परदेसी के मन में पटाखे फूट रहे हैं।

नवेली बहू को
माँ से छिपकर फूलझड़ी थमाता उसका पति

जो छुट्टी पर घर आया है बौडर से।

वीरेन के यहाँ एकदम अलग और प्रसंग को छू लेनेवाली, बल्कि प्रसंग को विस्तार देनेवाली उपमाएँ हैं। जीवन की भयावहता दिखाते हुए वीरेन हमारे डर को जीवन की विरासत समझने का सूत्र थमाते हैं। दस हजार फीट की ऊँचाई पर दुर्गम पहाड़ों के बीच सड़क बनाते शहीद हुए मजदूर के लिए झुका उनका माथा दरअसल प्रकृति की विराटता के आगे भी झुकता है।

कितनी विराट है यहाँ रात
घुल गये हैं जिसमें हिम-शिखर
नमक के ढेलों की तरह
सामने के पहाड़ अन्धकार में
दीखती है नीचे उतरते एक मोटरगाड़ी की
निरीह बत्तियाँ
विराट है जीवन। (दस हजार फीट पर कविता)

इस विराट अन्धकार में रास्ता दिखाती बत्तियों की निरीहता और उनकी जिजीविषा वही समझ पायेगा जो इन परिस्थितियों से गुजरा हो, जब आप अन्धेरे को चीर रहे होते हैं, कुछ-कुछ भगवान या भाग्य भरोसे, एक पतली-सी आस-किरन के सहारे। परन्तु कहना चाहूँगा कि वीरेन वास्तव में जीवन की विराटता के कवि नहीं हैं। वे जीवन-जगत से निहायत छोटी-छोटी, अनदेखी-सी स्थितियाँ और संवेदनाएँ उठानेवाले कवि हैं। वे पपीते की सुडौलता का धोखा पकड़ते है और उसके पिलपिलेपन को उजागर करते हैं कि एक धचका भी उसे पिचका सकता है। वे पपीते के बीज में बन्द पपीते को देख पाते हैं। डण्ठल के टूटने की आवाज उन्हें सुनायी पड़ती हैं। खेत का बोरी में, बोरी का गोदाम में, गोदाम का बैंक के कागजात में बदलना और तिजोरी में बन्द होना उनकी निगाह से छिपता नहीं। यह भी नहीं छिपता कि सिरहाने रखी तिजोरी की चाभियाँ फिर एक बार खेत बनेंगी जरूर। बढ़ियाई नदी को आतताई की तरह चित्रित करती उनकी कविता नदी के प्रति आस्था और उसके माँ-स्वरूप को खण्डित करती है। वीरेन सूक्ष्म अन्वेषणों और परिकल्पनाओं के कवि हैं। उनकी कविताएँ कहीं मुखर-राग नहीं अख्तियार करती। एक बहुत धीमा और उदास स्वर उभरता है उनकी कविताओं में जो पाठक को गहरे कहीं कचोटता है। 'हम औरतें' कविता में वे स्त्री-पीड़ा-प्रताड़ना, वंचना और उसकी विद्रूपताओं से उबरने की उनकी क्षमता का बयान करते हैं- 'वंचित सपनों की चारागाह में तो चौकड़ियाँ भर लेने दो हमें कमबख्तों,' उन्हें पता है कि स्त्रियाँ अपने आँचल में दुख-दर्द ही नहीं, सपने भी गठियाये रहती हैं।

वीरेन जितने भाषा के कवि हैं उससे कम ध्वनियों के कवि नहीं। तमाम कविताओं में उन्होंने क्रिया की ध्वनि पकड़ने और शब्दों में हस्तान्तरित करने की काव्यात्मक कोशिश की है। चाहे 'कटरी की रुक्मिनी' में 'खड़क-धड़-धड़' की लचकदार आवाज के साथ पुकार करती रेलगाड़ी हो या 'हवा' कविता में सुरंगों के भीतर बहती 'खुफिया संकेत भेजती/हू-हू-हू करती/टेलीफोन के खम्भों के अन्दर सनसनाती' हवा हो या 'गाय' कविता में घास चरने की चर-चर आवाज और मुँह से फूँक मारने की ध्वनि हो, या नदी का हफ्-हफ् हाँफना हो या समोसे छानते समय कड़ाही की बारी पर हलवाई के झन्ने की झन्न-फन्न आवाज हो या *'भूगोल रहित'* कविता में सड़क पर घोड़े के दौड़ने की ट्राप-ट्राप-ट्राप की आवाज हो, वीरेन हर जगह अपने कानों पर भरोसा करके ध्वनि को नये सिरे से पकड़ते हैं, पुरानी प्रस्तावित ध्वनि खारिज करते हैं। वरना तो घोड़े के दौडने के लिए टाप-टाप की आवाज पंजीकृत है ही।

वीरेन की कविता दरअसल बहुत छोटी-छोटी क्रियाओं, वस्तुओं के व्यवहार और अद्भुद कल्पनाशीलता के समन्वय से बनती है। उन्हें 'अधपकी निमौली जैसा सुन्दर वह हरा पीला चिपचिपा प्यार' याद आता है। उनके यहाँ पुराने वृक्षों की त्वचा पसीने से सीझती है। मल्लाह के लिए उनके यहाँ खेत है, सड़क है, कार्यशाला भी, पाठशाला भी। वे अक्टूबर की खासियत आप तक पहुँचाने के लिए फिराक को याद करते हैं ''धीमे-धीमे डग भरता हुआ अक्टूबर/गोया फिराक'। भाषा को वह सिर्फ चरित्र, देश-काल के अनुरूप की नहीं गढ़ते, बल्कि कविता में व्यक्त हो रहे भाव के आधार पर भाषा गढ़ते हैं।

अनवरसीटी हेरानी हे भइया
हेराना सटेसन परयाग
जाने केधर गै ऊ सिविल लैनवा
किन बैरन लगाई इ आग। (उधो मोहि ब्रज)

'धरती मिट्टी का ढेर नहीं अबे गधे' कविता में उनका अटपटा सम्बोधन कितना आत्मीय लगता है। निराला ने भी *'अबे ओ गुलाब'* लिखा था, जहाँ अबे हिकारत का भाव देता है। वीरेन के यहाँ यही अबे आत्मीयता का भाव देता है।

तू तभी अकेला है जो बात न ये समझे
हैं लोग करोड़ों इसी देश में तुझ जैसे
धरती मिट्टी का ढेर नहीं है अबे गधे।

मर्मज्ञों के लिए वीरेन ने जो कविताएँ लिखी हैं, उन्हे मर्मज्ञ ही समझें। मेरी समझ के बाहर है कि वे कविताएँ क्यों लिखी गयी हैं। तमाम कविताएँ ऐसी हैं- समय, वरुण, हाथी-हाथी, समय-दो, छावनी, आदि-आदि। कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें दरअसल दो कविताएँ जबरदस्ती घुसा दी गयी हैं, मसलन 'प्रधानमंत्री' (सन्दर्भ बंगलादेश)। इसमें प्रधानमंत्री की चर्चा के बहाने बात करते हुए वे आधी कविता सिर्फ पानी पर लिख डालते हैं। यह पानी अपने आप में एक मुकम्मल कविता है, प्रधानमंत्री से स्वतंत्र। कहीं-कहीं ऐसा भी होता हैं कि वे कविता तो नेवत देते हैं लेकिन खत्म कहाँ, कैसे करें, यह निश्चित नहीं कर पाते और अन्ततः अकबका कर कहीं भी कुछ कह के खत्म कर देते हैं। उदाहरण के लिए *'ऊँट'* कविता में वे ऊँट का नख-शिख वर्णन करते हैं पर उससे डर क्यों जाते हैं, स्पष्ट नहीं होता।

बोझ अभी-अभी उतरा था
उदासीन था बैठा वह कर रहा जुगाली

लगा देखने मुझे बड़ी ही उम्मीदों से
जब मैं उसके पास गया
मैं इतने ही से डर गया

क्यों इतने ही से डर गया, पता नहीं। यह इतना ही क्या है? इसी तरह पपीता कविता का बखान वह यूँ समाप्त करते हैं-- *'बहुत मुश्किल है पपीते का समुचित बखान करना/बगैर कुर्ता और पैन्ट पहने।'* अब मर्मज्ञ ही समझें इसे। बखान तो वह कर ही चुका है ऊपर की लाइनों में। फिर क्या बखान बाकी रह गया है जिसके लिए ड्रेस-कोड जरूरी लगा कवि को। इसके बरक्स तमाम कविताएँ ऐसी हैं, छोटी या बड़ी जो पूरी अच्छी और अलग तरह की कविताएँ हैं जिन्हें शायद वीरेन डंगवाल ही लिख पाते। उदाहरण के लिए- प्रेम कविता, गाय, बच्चा और गौरैया, बस में लम्बे सफर एक टुकड़ा, तोप, मक्खी, वन्या, नदी, मोटी कविता, हम औरतें मरे हुए दोस्त के लिए आदि-आदि।

वीरेन डंगवाल की कविताओं में एक अलग प्रकार की गति और गतिविधि भी है। वे यदि *'चाँद की गाड़ी पर बैठ कर खिड़की से। अपनी प्यारी पृथ्वी को देखना चाहते हैं '* तो नदी की रेती पर उतर कर कच्ची का धन्धा करनेवालों की जिन्दगी में धँसकर उनकी चारित्रिक ईमानदारी की टोह भी लेते हैं।

हरे खीरे जैसी बढ़ती बेटी को भरपूर ताक कर भी
जिस हया से वह निगाह फेर लेता है
उससे उसकी सच्चरित्रता पर
माँ का कृतज्ञ विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है।
(कटरी की रुक्मिनी)

कवि जब बचपन में उतरता है तो इमली के पेड़ पर ढेला चलाना और नेकर में हुई टट्टी याद करता है। पन्द्रह अगस्त पर कागज के झण्डों से असली झण्डे की दूरी नापता है।

छूने को नहीं मिला अभी तक
कभी असली झण्डा
कपड़े का बना हवा में फड़-फड़ करनेवाला
असल झण्डा
छूने तक को नहीं मिला

क्या इसे रूपक की तरह लेते हुए देश की स्थिति से जोड़ के न देखें? यह पंक्ति आम भारतीय के जीवन की त्रासदी का बयान कर जाती है। यह झण्डा सिर्फ झण्डा नहीं, आजादी है। असली आजादी और नकली आजादी का फर्क है कागज का झण्डा और कपड़े का झण्डा। आम आदमी के लिए कागज का झण्डा (नकली आजादी) ही असली झण्डा (असली आजादी) है क्योंकि असली झण्डा उसकी पहुँच से बहुत दूर है।

वे मोटा-मोटी नक्सलवाड़ी आन्दोलन के गर्भ से पैदा काव्य-धारा से जुड़े रहे और उसी के सहारे आम जन-जीवन की अभिव्यक्ति से भी। पाश और गोरख पाण्डे की तरह सीधे जन आन्दोलन का हिस्सा न रह के भी अग्रणी वामपंथी कवियों में शुमार रहे। जन संस्कृति मंच के तो संस्थापक सदस्य ही थे। कुल मिला के यह कि बतौर कवि उन्हें पारिवारिक, सामाजिक-आर्थिक विसंगतियों का सामना कभी नहीं करना पड़ा। यहाँ चूँकि पाश और गोरख पाण्डे का सन्दर्भ आया है, इसलिए स्पष्ट कर दूँ कि उस तरह के खतरे उनके जीवन में नहीं आये। इसे तुलनात्मक अध्ययन न समझा जाये तो कहना चाहूँगा कि पाश कवि बाद में एक्टिविस्ट पहले थे। शहीद भी उसी कारण हुए। जबकि गोरख मुख्यतः कवि-विचारक थे, एक्टिविस्ट बाद में। उनकी रचनात्मक संवेदना, सौन्दर्य चेतना और वैवाहिक जीवन उन्हें लगातार प्रेमाकांक्षी बनाये रहा और अन्ततः वे आत्म को सम्भाल पाने में असमर्थ साबित हुए। वीरेन न पाश की तरह एक्टिविस्ट-कवि थे न गोरख की तरह वास्तव में आम जन के जीवन में घुस-घुस के रहने वाले कवि-एक्टिविस्ट थे, बल्कि वे विशुद्ध कवि थे। कविताएँ लिखीं, अच्छी कविताएँ। सिर्फ कवि होकर जनसामान्य से जुड़ना कोई बुराई नहीं है। मगर देखने की चीज यह है कि साहित्य अकादमी जैसे सरकारी मगर स्वायत्त संगठन को वे ही कवि क्यों पसन्द आते हैं जो सिर्फ कविताएँ लिखते हैं, चाहे वे वाम-विचारों के हों या दक्षिणपंथी। मसलन राजेश जोशी या मंगलेश डबराल या वीरेन डंगवाल।

वीरेन की कलात्मक क्षमता पर यदि इसे टिप्पणी न समझा जाये और भक्ति-भाव से अलग हटकर यदि विश्लेषण किया जाये तो सोचना होगा कि क्या वीरेन डंगवाल तब भी उतने ही चर्चित कवि हुए होते, यदि उन्हें साहित्य अकादमी सम्मान न मिला होता। थोड़े कसैलेपन के साथ ही सही, याद करना चाहिए कि 'दुष्चक्र में स्रष्टा' को साहित्य अकादमी पुरस्कार दिये जाने का निर्णय उस समय विवादित रहा था और इसके पीछे पहाड़ के रचनाकारों का संगठित उपक्रम लक्षित किया गया था। ऐसा हमेशा से होता आया है कि पुरस्कार और चर्चा के बाद रचनाकार का मूल्याँकन 'प्रसिद्धि' से कुछ न कुछ प्रभावित जरूर होता है। देखना यह भी चाहिए कि पुरस्कार और चर्चा के इस उपक्रम के पीछे स्वयं कवि की रचनात्मक गतिविधियाँ कितनी उत्सुक और उत्साहवर्धक रही हैं। ताजा उदाहरण उदय प्रकाश हैं। एक कवि की भाषाई विविधता के पीछे क्या विषय और कथ्य की विविधता अथवा अनिवार्यता ही होती है या *'कुछ इसे भी', 'कुछ उसे भी'*, को प्रभावित करने की इच्छा। उनकी एक कविता है, *'कटरी की रुक्मिनी'*, जिसमें वे लिखते हैं-

यह जानकारी तो केवल मर्मज्ञों के लिए है
साधारण जन तो इसे जानते ही हैं।

ये पंक्तियाँ क्या भाषाई विविधता के पीछे के यथार्थ और 'मर्मज्ञों' तक भी पहुँच बनाने की छिपी इच्छा को समझने का कोई सूत्र नहीं छोड़ती हैं। उनका अन्त भले ही कविता के मोर्चे पर न हुआ हो, परन्तु जीवन के लिए संघर्ष करनेवाला और दुखद जरूर रहा। अब जबकि वे नहीं हैं, हमें 'अहो-अहो' से अलग, नये ढंग से उन्हें देखने-परखने की कोशिश करनी चाहिए। वीरेन डंगवाल कैंसर जैसी खतरनाक बीमारी से लड़ते हुए मौत के हाथों परास्त

हुए। उनकी कविताएँ समाज में फैली गरीबी, असमानता के कैंसर से आगे भी लड़ती रहेंगी। मैं एक दूसरी बात की तरफ ध्यान खींचना चाहता हूँ। वे मदिरापान और पान के शौकीन थे। पंकज चतुर्वेदी उनके संस्मरण लिख रहे हैं, बेहद आत्मीय, जरूरी और कवि को समझने में मददगार संस्मरणात्मक धारावाहिक। एक जगह वर्णन है कि बीमार वीरेन को देखने जब विश्वनाथ त्रिपाठी गये तो उन्होंने उनसे मदिरापान करने का आग्रह किया। स्वयं नहीं पी, शायद परहेज और ताकीद के कारण। इस संस्मरण को मैं उनकी कविता, *'इतने भले नहीं बन जाना साथी'* की इस पंक्ति के साथ पढ़ने की इजाजत चाहता हूँ- *''बगल दबी हो बोतल मुँह में जनता का अफसाना''* व्यक्ति और कवि वीरेन को समझने में शायद थोड़ी मशक्कत और साफगोई दरकार हो, वैसे उनके संवेदनशील और बेहद विनम्र, आत्मीय व्यक्तित्त्व का मैं भोक्ता रहा हूँ, प्रशंसक भी।

वीरेन को नये सिरे से समझने की कवायद क्यों न की जाये। हर प्रतिष्ठित कवि के लिए समय के साथ उसका पुनर्पाठ, एक जरूरी उपक्रम है। कोई कवि पूरा कवि नहीं होता। कोई एक कवि पृथ्वी की सारी कविताएँ लिख के नहीं मरता। किसी कवि की सारी कविताएँ महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं। फिर? नये सिरे से मूल्याँकन जरूरी है कि नहीं। कवि का भी, उसकी प्रासंगिकता का भी। यह भी तय करना होगा कि वीरेन की ही पंक्ति है-

गूदड़ कपड़ों का ढेर हूँ मैं
मुझे छाँटो
तुम्हे भी प्यारा लगने लगूँगा मैं एक दिन
उस लालटेन की तरह
जिसकी रोशनी में
मन लगाकर पढ़ रहा है तुम्हारा बेटा (कवि-2)

यह 1983 की कविता है जब वे साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त कवि नहीं हुए थे। वीरेन डंगवाल की इस रचनात्मक ईमानदारी, निजता, विनम्रता और उनकी स्मृति को सलाम!

प्राईवेट पंचायत

अन्ना-काईटैक्स ग्रुप ऑफ कम्पनी नाम के उद्योगपति घराने ने केरल के पंचायत चुनावों में हिस्सेतदारी की है। इस समूह ने एर्नाकुलम जिले के किझाक्कमबलम ग्राम पंचायत के सभी 19 वार्डों पर अपने प्रत्याशी खड़े किये हैं। कर्मचारियों की संख्या के हिसाब से यह कम्पनी समूह केरल में सबसे बड़ा है। यह मुख्यतः सिले-सिलाये वस्त्रों का कारोबार करता है। यह बच्चों के परिधान के क्षेत्र में केरल की सबसे बड़ी कम्पनी है। कम्पनी की अधिकांश उत्पादन इकाइयाँ किझाक्कमबलम पंचायत क्षेत्र में ही हैं।

कम्पनी के प्रबन्ध निदेशक साबू जैकब का कहना है कि ''कम्पनी इस गाँव को एक आदर्श गाँव बनाना चाहती है। हम पंचायत की शक्तियों का इस्तेमाल करके 2020 तक इसे पूरा कर देंगे।''

पंचायत अध्यक्ष जॉली बेबी का कहना है कि ''वे लोग अपनी कम्पनी के फायदे के लिए पंचायत पर नियंत्रण करना चाहते हैं। वे हमारे क्षेत्र के पानी और दलदल को प्रदूषित करते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए उनकी कम्पनी को लाइसेंस के नवीनीकरण से मना कर दिया गया था। पंचायत पर नियंत्रण कायम करके यह कॉर्पोरेट समूह इस तरह के मामलों मे अन्तिम फैसला लेने का अधिकार हासिल कर लेगा।'' इसके जवाब में कम्पनी के प्रबन्धक जैकब का कहना है कि निकासी के शोधन से सम्बन्धित मामले की जाँच कई सरकारी ऐजेन्सियों से करायी गयी जिन्होंने कम्पनी को ''क्लीन चिट'' दे दी।

गौरतलब है कि सन 2003 में केरल के ही पलक्कड़ जिले के प्लाचीमाड़ा गाँव में दुनिया की अग्रणी बहुराष्ट्रीय कम्पनी 'कोका कोला' को अपना प्लान्ट बन्द करना पड़ा था। प्लाचीमाड़ा की पंचायत ने कोका कोला के लाइसेंस के नवीनीकरण करने से इनकार कर दिया था क्योंकि इस कम्पनी ने वहाँ के भू-जल को भारी पैमाने पर चूस लिया था। कानूनी लड़ाई में 'कोका कोला' पंचायत से हार गयी थी।

पंचायत चुनाव में किसी पूँजीपति घराने की प्रत्यक्ष और घोषित भागीदारी की यह पहली घटना है। संसद और विधान सभाओं में पार्टियों और प्रत्याशियों को चन्दा देकर अपना आदमी बैठाने का लाभ तो होता ही रहा है, अब सबसे निचले पायदान पर पूँजीपितयों की प्रत्यक्ष भागीदारी लोकतंत्र को पूरी तरह धनतंत्र में बदलने का स्पष्ट संकेत है।

आवारा भीड़ के खतरे

--हरिशंकर परसाई

एक अन्तरंग गोष्ठी सी हो रही थी युवा असन्तोष पर। इलाहाबाद के लक्ष्मीकांत वर्मा ने बताया-- पिछली दीपावली पर एक साड़ी की दुकान पर काँच के केस में सुन्दर साड़ी से सजी एक सुन्दर मॉडल खड़ी थी। एक युवक ने एकाएक पत्थर उठाकर उस पर दे मारा। काँच टूट गया। आसपास के लोगों ने पूछा कि तुमने ऐसा क्यों किया? उसने तमतमाए चेहरे से जवाब दिया-- हरामजादी बहुत खूबसूरत है।

हम 4-5 लेखक चर्चा करते रहे कि लड़के के इस कृत्य का क्या कारण है? क्या अर्थ है? यह कैसी मानसिकता है? यह मानसिकता क्यों बनी? बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ये सवाल दुनिया-भर में युवाओं के बारे में उठ रहे हैं-- पश्चिम से सम्पन्न देशों में भी और तीसरी दुनिया के गरीब देशों में भी। अमेरिका से आवारा हिप्पी और 'हरे राम और हरे कृष्ण' गाते अपनी व्यवस्था से असन्तुष्ट युवा भारत आते हैं और भारत का युवा लालायित रहता है कि चाहे चपरासी का काम मिले, अमेरिका में रहूँ। 'स्टेट्स' जाना यानी चौबीस घंटे गंगा नहाना है। ये अपवाद हैं। भीड़-की-भीड़ उन युवकों की है जो हताश, बेकार और क्रुद्ध हैं। सम्पन्न पश्चिम के युवकों के व्यवहार के कारण भिन्न हैं। सवाल है-- उस युवक ने सुन्दर मॉडल पर पत्थर क्यों फेंका? हरामजादी बहुत खूबसूरत है-- यह उस गुस्से का कारण क्यों? वाह, कितनी सुन्दर है-- ऐसा इस तरह के युवक क्यों नहीं कहते?

युवक साधारण कुरता पाजामा पहिने था। चेहरा बुझा था जिसकी राख में चिंगारी निकली थी पत्थर फेंकते वक्त। शिक्षित था। बेकार था। नौकरी के लिए भटकता रहा था। धंधा कोई नहीं। घर की हालत खराब। घर में अपमान, बाहर अवहेलना। वह आत्मग्लानि से क्षुब्ध। घुटन और गुस्सा एक नकारात्क भावना। सबसे शिकायत। ऐसी मानसिकता में सुन्दरता देखकर चिढ़ होती है। खिले फूल बुरे लगते हैं। किसी के अच्छे घर से घृणा होती है। सुन्दर कार पर थूकने का मन होता है। मीठा गाना सुनकर तकलीफ होती है। अच्छे कपड़े पहिने खुशहाल साथियों से विरक्ति होती है। जिस भी चीज से खुशी, सुन्दरता, सम्पन्नता, सफलता, प्रतिष्ठा का बोध होता है, उस पर गुस्सा आता है।

बूढ़े-सयाने स्कूल का लड़का अब मिडिल स्कूल में होता है तभी से शिकायत होने लगती है। वे कहते हैं-- ये लड़के कैसे हो गये? हमारे जमाने में ऐसा नहीं था। हम पिता, गुरु, समाज के आदरणीयों की बात सिर झुकाकर मानते थे। अब ये लड़के बहस करते हैं। किसी को नहीं मानते। मैं याद करता हूँ कि जब मैं छात्र था, तब मुझे पिता की बात गलत तो लगती थी, पर मैं प्रतिवाद नहीं करता था। गुरु का भी प्रतिवाद नहीं करता था। समाज के नेताओं का भी नहीं। मगर तब हम छात्रों को जो किशोरावस्था में थे, जानकारी ही क्या थी? हमारे कस्बे में कुल दस-बारह अखबार आते थे। रेडियो नहीं। स्वतंत्रता संग्राम का जमाना था। सब नेता हमारे हीरो थे-- स्थानीय भी और जवाहर लाल नेहरू भी। हम पिता, गुरु, समाज के नेता आदि की कमजोरियाँ नहीं जानते थे। मुझे बाद में समझ में आया कि मेरे पिता कोयले के भट्टों पर काम करनेवाले गोंडों का शोषण करते थे। पर अब मेरा ग्यारह साल का नाती पाँचवी कक्षा का छात्र है। वह सवेरे अखबार पढ़ता है, टेलीवीजन देखता है, रेडियो सुनता है। वह तमाम नेताओं की पोलें जानता है। देवीलाल और ओमप्रकाश चौटाला की आलोचना करता है। घर में उससे कुछ ऐसा करने को कहो तो वह प्रतिरोध करता है। मेरी बात भी तो सुनो। दिन भर पढ़कर आया हूँ। अब फिर कहते ही कि पढ़ने बैठ जाऊँ।

थोड़ी देर खेलूँगा तो पढ़ाई भी नहीं होगी। हमारी पुस्तक में लिखा है। वह जानता है घर में बड़े कब-कब झूठ बोलते हैं।

ऊँची पढ़ाईवाले विश्वविद्यालय के छात्र सवेरे अखबार पढ़ते हैं, तो तमाम राजनीति और समाज के नेताओं के भ्रष्टाचार, पतनशीलता के किस्से पढ़ते हैं। अखबार देश को चलानेवालों और समाज के नियामकों के छल, कपट, प्रपंच, दुराचार की खबरों से भरे रहते हैं। धर्माचार्यों की चरित्रहीनता उजागर होती है। यही नेता अपने हर भाषण हर उपदेश में छात्रों से कहते हैं - युवकों, तुम्हें देश का निर्माण करना है (क्योंकि हमने नाश कर दिया है) तुम्हें चरित्रवान बनना है (क्योंकि हम तो चरित्रहीन हैं) शिक्षा का उद्देश्य पैसा कमाना नहीं है, नैतिक चरित्र को ग्रहण करना है - (हमने शिक्षा और अशिक्षा से पैसा कमाना और अनैतिक होना सीखा) इन नेताओं पर छात्रों-युवकों की आस्था कैसे जमे? छात्र अपने प्रोफेसरों के बारे सब जानते हैं। उनका ऊँचा वेतन लेना और पढ़ाना नहीं। उनकी गुटबंदी, एक-दूसरे की टाँग खींचना, नीच कृत्य, द्वेषवश छात्रों को फेल करना, पक्षपात, छात्रों का गुटबंदी में उपयोग। छात्रों से कुछ नहीं छिपा रहता अब। वे घरेलू मामले जानते हैं। ऐसे गुरुओं पर छात्र कैसे आस्था जमाएँ। ये गुरु कहते हैं छात्रों को क्रान्ति करना है। वे क्रान्ति करने लगे, तो पहले अपने गुरुओं को साफ करेंगे। अधिकतर छात्र अपने गुरु से नफरत करते हैं।

बड़े लड़के अपने पिता को भी जानते हैं। वे देखते हैं कि पिता का वेतन तो सात हजार है, पर घर का ठाठ आठ हजार रुपयों का है। मेरा बाप घूस खाता है। मुझे ईमानदारी के उपदेश देता है। हमारे समय के लड़के-लड़कियों के लिए सूचना और जानकारी के इतने माध्यम खुले हैं, कि वे सब क्षेत्रों में अपने बड़ों के बारे में सबकुछ जानते हैं। इसलिए युवाओं से ही नहीं बच्चों तक से पहले की तरह की अन्ध भक्ति और अन्ध आज्ञाकारिता की आशा नहीं की जा सकती। हमारे यहाँ ज्ञानी ने बहुत पहले कहा था-- प्राप्तेषु षोडसे वर्षे पुत्र मित्र समाचरेत। उनसे बात की जा सकती है, उन्हें समझाया जा सकता है। कल परसों मेरा बारह साल का

नाती बाहर खेल रहा था। उसकी परीक्षा हो चुकी है और एक लंबी छुट्टी है। उससे घर आने के लिए उसके चाचा ने दो-तीन बार कहा। डाँटा। वह आ गया और रोते हुए चिल्लाया हम क्या करें? ऐसी तैसी सरकार की जिसने छुट्टी कर दी। छुट्टी काटना उसकी समस्या है। वह कुछ तो करेगा ही। दबाओगे तो विद्रोह कर देगा। जब बच्चे का यह हाल है तो किशोरों और तरुणों की प्रतिक्रियाएँ क्या होंगी।

युवक-युवतियों के सामने आस्था का संकट है। सब बड़े उनके सामने नंगे हैं। आदर्शों, सिद्धान्तों, नैतिकताओं की धज्जियाँ उड़ते वे देखते हैं। वे धूर्तता, अनैतिकता, बेईमानी, नीचता को अपने सामने सफल एवं सार्थक होते देखते हैं। मूल्यों का संकट भी उनके सामने है। सब तरफ मूल्यहीनता उन्हें दिखती है। बाजार से लेकर धर्मस्थल तक। वे किस पर आस्था जमाएँ और किस के पदचिह्नों पर चलें? किन मूल्यों को मानें?

यूरोप में दूसरे महायुद्ध के दौरान जो पीढ़ी पैदा हुई उसे 'लास्ट जनरेशन' (खोई हुई पीढ़ी) का कहा जाता है। युद्ध के दौरान अभाव, भुखमरी, शिक्षा चिकित्सा की ठीक व्यवस्था नहीं। युद्ध में सब बड़े लगे हैं, तो बच्चों की परवाह करनेवाले नहीं। बच्चों के बाप और बड़े भाई युद्ध में मारे गये। घर का, सम्पत्ति का, रोजगार का नाश हुआ। जीवन मूल्यों का नाश हुआ। ऐसे में बिना उचित शिक्षा, संस्कार, भोजन कपड़े के विनाश और मूल्यहीनता के बीच जो पीढ़ी बनकर जवान हुई, तो खोई हुई पीढ़ी इसके पास निराशा, अन्धकार, असुरक्षा, अभाव, मूल्यहीनता के सिवाय कुछ नहीं था। विश्वास टूट गये थे। यह पीढ़ी निराश, विध्वंसवादी, अराजक, उपद्रवी, नकारवादी हुई। अंग्रेज लेखक जार्ज ओसबर्न ने इस क्रुद्ध पीढ़ी पर नाटक लिखा था जो बहुत पढ़ा गया और उस पर फिल्म भी बनी। नाटक का नाम 'लुक बैक इन एंगर'। मगर यह सिलसिला यूरोप के फिर से व्यवस्थित और सम्पन्न होने पर भी चलता रहा। कुछ युवक समाज के 'ड्राप आउट' हुए। 'वीट जनरेशन' हुई। औद्योगीकरण के बाद यूरोप में काफी प्रतिशत बेकारी है। ब्रिटेन में अठारह प्रतिशत बेकारी है। अमेरिका ने युद्ध नहीं भोगा। मगर व्यवस्था से असन्तोष वहाँ पैदा हो हुआ। अमेरिका में भी लगभग बीस प्रतिशत बेकारी है। वहाँ एक ओर बेकारी से पीड़ित युवक है, तो दूसरी ओर अतिशय सम्पन्नता से पीड़ित युवक भी। जैसे यूरोप में वैसे ही अमेरिकी युवकों, युवतियों का असन्तोष, विद्रोह, नशेबाजी, यौन स्वच्छंदता और विध्वंसवादिता में प्रगट हुआ। जहाँ तक नशीली वस्तुओं के सेवन के सवाल है, यह पश्चिम में तो है ही, भारत में भी खूब है। दिल्ली विश्वविद्यालय के पर्यवेक्षण के अनुसार दो साल पहले सत्तावन फीसदी छात्र नशे के आदी बन गये थे। दिल्ली तो महानगर है। छोटे शहरों में, कस्बों में नशे आ गये हैं। किसी-किसी पान की दुकान में नशा हर जगह मिल जाता है। 'स्मैक' और 'पॉट' टॉफी की तरह उपलब्ध हैं।

छात्रों-युवकों को क्रान्ति की, सामाजिक परिवर्तन की शक्ति मानते हैं। सही मानते हैं। अगर छात्रों युवकों में विचार हो, दिशा हो संगठन हो और सकारात्मक उत्साह हो। वे अपने से ऊपर की पीढ़ी की बुराइयों को समझें तो उन्हीं बुराइयों के उत्तराधिकारी न बने, उनमें अपनी ओर से दूसरी बुराइयाँ मिलाकर पतन की परम्परा को आगे न बढ़ाएँ। सिर्फ आक्रोश तो आत्मक्षय करता है। एक हर्बर्ट मार्क्यूस चिंतक हो गये हैं, जो सदी के छठवें दशक में बहुत लोकप्रिय हो गये थे। वे 'स्टूडेंट पावर' में विश्वास करते थे। मानते हैं कि छात्र क्रान्ति कर सकते हैं। वैसे सही बात यह है कि अकेले छात्र क्रान्ति नहीं कर सकते। उन्हें समाज के दूसरे वर्गों को शिक्षित करके चेतनाशील बनाकर संघर्ष में साथ लाना होगा। लक्ष्य निर्धारित करना होगा। आखिर क्या बदलना है यह तो तय हो। अमेरिका में हर्बर्ट मार्क्यूस से प्रेरणा पाकर छात्रों ने नाटक ही किए। हो ची मिन्ह और चे ग्वेरा के बड़े-बड़े चित्र लेकर जुलूस निकालना और भद्दी ,भौंड़ी, अश्लील हरकतें करना। अमेरिकी विश्विद्यालय की पत्रिकाओं में बेहद फूहड़, अश्लील चित्र और लेख, कहानी। फ्रांस के छात्र अधिक गम्भीर शिक्षित थे। राष्ट्रपति द गाल के समय छात्रों ने सोरोबोन विश्वविद्यायल में आन्दोलन किया। लेखक ज्याँ पाल सार्त्र ने उनका समर्थन किया। उनका नेता कोहने बेंडी प्रबुद्ध और गम्भीर युवक था। उनके लिए राजनीतिक क्रान्ति करना संभव नहीं था। फ्रांस के श्रमिक संगठनों ने उनका साथ नहीं दिया। पर उनकी माँगें ठोस थी जैसे शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन। अपने यहाँ जैसी नकल करने की छूट की क्रान्तिकारी माँग उनकी नहीं थी। पाकिस्तान में भी एक छात्र नेता तारिक अली ने क्रान्ति की धूम मचाई। फिर वह लंदन चला गया।

युवकों का यह तर्क सही नहीं है कि जब सभी पतित हैं, तो हम क्यों नहीं हों। सब दलदल में फँसे हैं, तो जो नए लोग हैं, उन्हें उन लोगों को वहाँ से निकालना चाहिए। यह नहीं कि वे भी उसी दलदल में फँस जाएँ। दुनिया में जो क्रान्तियाँ हुई हैं, सामाजिक परिवर्तन हुए हैं, उनमें युवकों की बड़ी भूमिका रही है। मगर जो पीढ़ी ऊपर की पीढ़ी की पतनशीलता अपना ले क्योंकि वह सुविधा की है और उसमें सुख है तो वह पीढ़ी कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। ऐसे युवक हैं, जो क्रान्तिकारिता का नाटक बहुत करते हैं, पर दहेज भरपूर ले लेते हैं। कारण बताते हैं - मैं तो दहेज को ठोकर मारता हूँ। पर पिताजी के सामने झुकना पड़ा। यदि युवकों के पास दिशा हो, संकल्पशीलता हो, संगठित संघर्ष हो तो वह परिवर्तन ला सकते हैं। पर मैं देख रहा हूँ एक नई पीढ़ी अपने से ऊपर की पीढ़ी से अधिक जड़ और दकियानूसी हो गई है। यह शायद हताशा से उत्पन्न भाग्यवाद के कारण हुआ है। अपने पिता से तत्ववादी, बुनियादपरस्त (फंडामेंटलिस्ट) लड़का है।

दिशाहीन, बेकार, हताश, नकारवादी, विध्वंसवादी बेकार युवकों की यह भीड़ खतरनाक होती है। इसका प्रयोग महत्त्वाकांक्षी खतरनाक विचारधारावाले व्यक्ति और समूह कर सकते हैं। इस भीड़ का उपयोग नेपोलियन, हिटलर और मुसोलिनी ने किया था। यह भीड़ धार्मिक उन्मादियों के पीछे चलने लगती है। यह भीड़ किसी भी ऐसे संगठन के साथ हो सकती है जो उनमें उन्माद और तनाव पैदा कर दे। फिर इस भीड़ से विध्वंसक काम कराए जा सकते हैं। यह भीड़ फासिस्टों का हथियार बन सकती है। हमारे देश में यह भीड़ बढ़ रही है। इसका उपयोग भी हो रहा है। आगे इस भीड़ का उपयोग सारे राष्ट्रीय और मानव मूल्यों के विनाश के लिए, लोकतंत्र के नाश के लिए करवाया जा सकता है। ○

हिन्दुत्व की प्रोपगेण्डा मशीन झूठ कैसे गढ़ती है

–आदित्य निगम

पता है, लेखकों, फिल्म निर्माताओं और वैज्ञानिकों द्वारा पुरस्कारों की वापसी अमरीका, सऊदी अरब और पाकिस्तान द्वारा आपस में मिलकर रचा गया षडयंत्र था? ठीक है, अगर आपको नहीं पता तो आप कभी नहीं समझ पायेंगे कि आज अनुपम खेर की **मार्च फॉर इण्डिया** रैली में उमड़े ''सहिष्णुता'' के सैलाब द्वारा **एनडीटीवी की भैरवी सिंह और आज तक की मौसमी सिंह** का इतने घिनौने तरीके से अपमान और उन पर हमला क्यों किया गया। आखिरकार, टीवी चैनलों और हर जगह पर अपने गुस्से और हँसी का ढोंग करना नेताओं का काम है, लेकिन आप आम लोगों को उन्मादी बनाये जाने का तरीका कैसे समझ पायेंगे? हिन्दुत्व के पैदल सिपाही क्या काम करते हैं, वे (लड़का या लड़की) इस तरीके से क्यों और कैसे करते हैं? मूलतः उसे (लड़का, कभी-कभी लड़की) ऐसी चीजों पर विश्वास करने के लिए ही तैयार किया जाता है जिन्हें अधिकांश लोग झूठ मानेंगे। ऐसा क्यों है कि लेखकों द्वारा पुरस्कार वापसी का बिलकुल गैर-नुकसानदेह काम दुनिया में भारत की हैसियत और मौजूदा सरकार की सत्ता के लिए इतना बड़ा खतरा बन जाता है। ऐसा इसलिए क्योंकि यह कुछ लेखकों की अपनी अन्तरात्मा जाग उठने का साधारण मामला नहीं है, बल्कि अमरीका-सऊदी अरब-पाकिस्तान के गठबन्धन द्वारा पहले से ही रचे गये अन्तरराष्ट्रीय षड्यंत्र का एक हिस्सा है!

आगे दी गयी सामग्री उस विवरण का अंश है जो सोशल मीडिया के विभिन्न मंचों पर वितरित की जा रही है। हमने मूल पाठ की टंकण और मुद्रण सम्बन्धी गलतियों को छोड़ दिया है। अपनी अन्तरवस्तु में भ्रामक, यह उस तरीके को भी स्पष्ट करनेवाला है जिससे आरएसएस की ''अफवाह मशीन'' झूठ का उत्पादन करती है। पुराने दिनों में आरएसएस सुबह की शाखाओं में भाग लेनेवालों के बीच झूठ फैलाकर इसकी शुरुआत किया करती थी। आजकल यह प्रकाश की गति से एक सोशल मीडिया मंच से दूसरे पर घूमता है।

आगे का विवरण जनहित में जारी करने की जरूरत है, हालाँकि यह अरुचिकर है फिर भी उल्लेखनीय है। इसे, शुरू-शुरू में (ऐसा लगता है), किसी महाराष्ट्र निवासी विशाल द्वारा जारी किया गया है, इसका प्रारम्भिक सम्बोधन इस प्रकार है--

भारत को तोड़ने वाली ताकतों की पापी और घृणित योजना का *भण्डाफोड़*। मोदी सरकार समर्थकों के लिए *पढ़ना अनिवार्य*। मूल में बड़े अक्षर हैं। 'भण्डाफोड़' पर जोर देकर हिन्दुत्व के इच्छुक पाठक पर यह प्रभाव छोड़ा गया है कि वह जो बात पढ़ने जा रहा/रही है वह किसी वास्तविक जाँच और तथ्यों के रहस्योद्घाटन पर आधारित है।

और निश्चय ही, इस विवरण में किये गये दावों का तथ्यात्मक स्तर बिलकुल शुरुआत में ही स्थापित कर दिया गया है यह ऐसी कोई चीज है जो अधिकांश लोगों की साँस फुला देगी। यहाँ इसे हूबहू दिया गया है, (कोष्ठकों में हमारे अपने अवलोकन भी दिये गये हैं।)

1. **भारत सरकार का गुप्तचर विभाग *पुरस्कार वापसी* की जाँच कर चुका है** और शुरुआती रिपोर्ट बताती है कि इसमें अमरीका-सऊदी अरब-पाकिस्तान का हाथ है।

[भारत सरकार के गुप्तचर विभाग ने जाँच की है और निश्चय ही यह बेहद गुप्त सूचना है, इसे केवल अनौपचारिक माध्यमों द्वारा ही प्रचारित किया जा सकता है, ऐसे लोगों के माध्यम से जो इससे सीधे जुड़े हों। अपील केवल 'मोदी सरकार समर्थकों' को सम्बोधित करती है, पैदल सिपाहियों के दिमाग में थोड़ा सन्देह है कि इस गुप्त चैनल के माध्यम से उसे ऐसी सूचना का संसर्गी बनाया जा रहा है, जो कोई और नहीं बल्कि सरकार के समर्थक ही हासिल कर सकते हैं। उसे जो वह हमें प्रतीत होता है (एक लठैत) उससे मानसिक रूप से ऊँचा उठा दिया गया है। (भारत को तोड़ने के लिए किये गये एक अन्तरराष्ट्रीय षडयंत्र के खिलाफ एक लड़ाका)]

2. यह तब शुरू हुआ जब कुछ वरिष्ठ कांग्रेसी, जेएनयू प्रोफेसर, वरिष्ठ पत्रकार और साहित्यकार मिले और इन लेखकों को दादरी घटना को एक आसान मुद्दे के रूप में इस्तेमाल करने के लिए राजी किया गया।

3. पहली मीटिंग जेएनयू में हुई और बाद में इंडिया इंटरनेशनल सेन्टर और हैबिटेट सेन्टर में। शुरू में ये साहित्यकार नकारात्मक प्रतिक्रिया के भय से खुलकर सामने आने को राजी नहीं थे, लेकिन फिर

उन्हें कांग्रेस से मिलनेवाली सहूलियतों के बारे में बताया गया।

(ध्यान दीजिए 'तथ्यात्मक' रजिस्टर कितने दृढ़ निश्चय से कैसे बात करता है- पहली मीटिंग जेएनयू में हुई थी और बाद में आईसी और आईएचसी में। कोष्ठक में यह कहा जाना चाहिए कि जो घटनाओं पर निगाह रख रहा था उसे पता होना चाहिए था कि लेखक उदय प्रकाश ने वास्तव में अपना पुरस्कार विरोध की एक नितान्त निजी कार्रवाई के रूप में लौटाया था और लम्बे समय तक किसी और ने ऐसा नहीं किया, यहाँ दादरी एक मकसद बन गया, जिसने बहुतों को इसी तरह का प्रतीकात्मक विरोध करने के बारे में सोचने के लिए प्रेरीत किया।)

4. उन्हें समझाया गया कि उन्हें पुरस्कार, सहूलियत कैसे मिले और मोदी का खतरा व कोष की कमी (वाक्य अधूरा और गलत)। **बाद में नयनतारा सहगल को लाया गया और विरोध का नेतृत्व करने के लिए तैयार किया गया**

5. **नयनतारा सहगल *नेहरू* से सम्बन्ध के चलते परिवर्तन बिन्दु थी** और सबको मीडिया, कांग्रेस और अन्तरराष्ट्रीय अवसर के पूर्ण समर्थन का भरोसा दिलाया गया था।

6. वैश्विक स्तर पर 150 लेखक और पत्रकार **पुरस्कार वापसी** पर लेख लिखने और मोदी के शासन में भारत की छवि *''असहिष्णु''* के रूप में बनाने के लिए किराये पर लिये गये थे।

7. *पाक-अमरीका-सऊदी, फोर्ड फाउन्डेसन और ग्रीन पीस* को बढ़ावा देने और लाभ पहुँचाने के लिए एक अन्तरराष्ट्रीय पीआर फर्म किराये पर ली गयी और फीस व फायदों के रूप में लाखों खर्च किये गये।

(यह एक बार फिर जोड़-गाँठवाले तथ्यों का प्रभाव छोड़ता है क्योंकि इसमें फोर्ड फाउन्डेसन और ग्रीन पीस को भी शामिल कर लिया गया है- लेकिन आश्चर्यजनक ढंग से पीआर फर्म का नाम नहीं बताया गया है और उम्मीद की गयी है कि इस पर कोई ध्यान नहीं देगा।)

8. लेखक, कवि, नारायणमूर्ति, रघुराम राजन, फिल्म निर्माता--- इन सभी ने एक ही शब्द- का इस्तेमाल किया है जो हर बयान में समान है *''असहिष्णु''*। यह कैसे सम्भव है कि सभी एक ही शब्द का इस्तेमाल करें यहाँ तक कि एक ही असुरक्षित टिप्पणी करके पकड़ में आये?

(अब यह उत्कृष्ट विश्लेषण है! यह कैसे हो सकता है कि सभी ने एक ही शब्द इस्तेमाल किया *असहिष्णुता*!। इसका केवल एक ही अर्थ है कि उन्हें एक ही स्रोत से धन दिया गया था- हालाँकि स्रोत निश्चय ही पागल था जो उन्हें नेट सर्च करके कुछ समानार्थी शब्द ढूँढने के लिए नहीं कहा हो सकता है पकड़ में आ जाना चाहता था। कौन जानता है?)

[इसके बाद वैश्विक षडयंत्र के वास्तव मे जटिल पहलू पर आते हैं। कुछ शरीर मनोविज्ञानी/मनोविश्लेषकों को इस काल्पनिक दृश्य लेख का 'वास्तविक अर्थ' समझने में निश्चय ही हमारी मद्द करनी पड़ेगी।]

9- बिहार चुनाव केवल *बोनस* है। शुरुआत बिन्दु *अमरीका-पाक-साउदी* (यूपीएस) *सुरक्षा परिषद* में स्थायी सीट की भारत की कोशिश को *रोकना* चाहते है। अचम्भे की बात नहीं, कांग्रेस भी इसमें हिस्सेदार है। पश्चिम में ताजा रिपोर्टों के अनुसार भी, अमरीका भी अपने लोगों के *हिन्दुत्व* की ओर जाने से चिन्तित है और *वेटिकन* भी *ईसाइयत* के भविष्य को लेकर चिन्तित है। यह स्पष्ट करता है कि मोदी की यात्रा के दौरान पोप अमरीका में क्यों था। निश्चय ही वह संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत और पाकिस्तान विकास योजना को सुनने नहीं आया था।

10. यूपीएस ने भारत को मोदी के शासन में दूसरे धर्मों के लिए 'असहिष्णु', हिन्दू आतंक को बढ़ावा देनेवाले एक देश के रूप में दिखाने के लिए ''मानवाधिकारों'' के चक्रव्यूह का खाका बनाया है। पीआर फर्म (भारत सरकार के गुप्तचर स्रोतों के बावजूद भी पीआर फर्म का नाम अभी तक नहीं आया) और प्रेसटिट्यूट (साधुवाद! यह वही शब्द है जिसे वी के सिंह ने प्रेस के लिए इस्तेमाल किया था, उसी तरह जैसा एनडीटीवी रिपोर्टर भैरवी सिंह को अपमानित करने के लिए जुलूस में शामिल लोगों ने किया था) सभी इसे वैश्विक प्रेस के माध्यम से विश्व में ले जाना चाहते हैं। *सऊदी अरब, यूएनएचआर* आयोग का अध्यक्ष है, *पाकिस्तान* दोस्त है और बहुत जल्दी ही *पाकिस्तान* के साथ मिलकर भारत में मानवाधिकार हनन पर सवाल उठाने जा रहा है। इस पर नजर रखिये, यह आ रहा है।

11. यह रिपोर्ट मोदी सरकार के पास है और मोदी का यूएई का दौरा इसकी काट करने के लिए तुरूप का पत्ता था। भारत सरकार की जाँच में, यह सामने आ चुका है कि पीआर फर्म ने बहुत से प्रेसटिट्यूटों, प्रिंट, टीवी, लेखकों, फिल्म संघों और निर्माताओं की आर्थिक मद्द की।

[विवरण का अन्तिम पैरा बिहार चुनाव परिणामों के सम्भावित राजनीतिक परिणाम को बताता है- क्या हो सकता है अगर भाजपा हारती है और तब क्या हो सकता है अगर जीतनी है- और यह धमकी कि अगर भाजपा जीतती है तब बिहार चुनाव परिणामों के बाद, भारत सरकार ***पुरस्कार वापसी*** गैंग के इन दृष्ट तत्त्वों के साथ पूरे जोर-शोर से निपटेगी।]

12. आर्थिक मदद की शर्त है-- ''5 नवम्बर तक दादरी और ***पुरस्कार वापसी*** इत्यादि मुद्दों को हर कीमत पर जीवित रखना और ऐसी घटनाओं को ढूँढकर निकालना जिन्हें थोड़े दिनों के लिए इस घटना से जोड़ा जा सकता है।''

13. अगर भाजपा बिहार चुनाव में हारती है तो सरकार को संयुक्त राष्ट्र समेत अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर एक ऐसी सरकार के रूप में पेश किया जायेगा जो मानवाधिकारों को कुचल रही है। यह बाकी शासन काल कि लिए मेक इन इंडिया और **एफडीआई** निवेश को **रोककर** मोदी *विकास* को पटरी से उतार देगा। धारा 370 को हटाना और समान नागरिक संहिता भी ठंडे बस्ते में चले जायेंगे।

14. अगर भाजपा बिहार चुनाव

जीतती है तब देशव्यापी बड़े **दंगों** की योजना बनायी गयी है ताकि **भारत सरकार** इसमें 2019 तक उलझ जाये और **मोदी** को एक ऐसे अयोग्य प्रधानमंत्री के रूप में प्रचारित कर दे जिसने देश को दंगे और अस्थिरता में झोंक दिया। हार्दिक पटेल के रूप में एक अच्छी कोशिश की थी **लेकिन सोशल मीडिया** और **भारत सरकार** ने इसे फुस्स कर दिया।

15. बिहार चुनाव के बाद जैसा कि अमित शाह ने अर्णब को दिये इन्टरव्यू में इशारा किया था, भारत सरकार दुष्ट और देशद्रोही षडयंत्र का प्रतिकार करके इसकी पूरी तरह गर्दन दबोचेगी और ***पुरस्कार वापसी*** गिरोह की पूरी जाँच करेगी।

[अन्तिम बिन्दु, बिन्दु 16 यह उद्घाटित करनेवाला है कि हिन्दू दक्षिणपन्थ वास्तव में कितना असुरक्षित महसूस कर रहा है कि इसे अपने समर्थकों के लिए यह अपील जारी करनी पड़ती है।]

16. सभी मोदी सरकार समर्थकों से गुजारिश है, कृपया *जाल* में न फँसे। मीडिया, राजनीतिज्ञों, सेक्यूलर लोगों का भंडाफोड़ करें, लेकिन *तथ्यों* के साथ। फोटोशॉप तस्वीरों की जाँच करें। आप सभी मोदी सरकार की रक्षा की *पहली* पंक्ति हैं। आपने उन्हें 5 सालों के लिए चुना है। उन पर *भरोसा* करें। पृथ्वी पर उनका *काम* सबसे कठिन है।

ध्यान दें कि अब भी ''मीडिया'' और ''सेक्यूलरों'' का तथ्यों के साथ ''भंडाफोड'' करने की अपील की गयी है। इस पर भी ध्यान दें कि आम आदमियों को एक बार फिर अपने नेता की रक्षा के लिए युद्ध में घसीटा गया है- आप मोदी सरकार की रक्षा की पहली कतार हो। पैदल सिपाहियों को यह एहसास करवाया जा रहा है कि वह दुर्बल नेता के अपराजेय सैनिक हैं, जो अब अन्तरराष्ट्रीय षड्यंत्र का 'शिकार' है और जहाँ सबके सब आन्तरिक शत्रु उसके विदेशी शत्रुओं के साथ मिल गये हैं!

विज्ञापनः झूठ को सच में बदलने का धन्धा

--अमरपाल

राजग ने महज एक साल में ही विज्ञापनों पर कर दिया संप्रग के दस साल के बराबर खर्च।

मनमोहन सरकार ने सरकारी खजाने से अपने पहले पाँच साल के शासन (2004-2009) में 312 करोड़ रुपये विज्ञापनों पर खर्च किये थे वहीं दूसरे पाँच साल (2009-2014) में उसने दोगुने से ज्यादा 696 करोड़ रुपये खर्च किये थे। पिछली सरकार को काफी पीछे छोड़ते हुए मोदी सरकार ने सिर्फ एक साल में ही 993 करोड़ रुपये विज्ञापनों पर फूँक दिये।

विज्ञापनों पर हो रहे इस बेतहाशा खर्चे को लेकर सर्वोच्च न्यायालय ने 24 अप्रैल 2014 को जनता के पैसों का दुरूपयोग रोकने के लिए सरकार को दिशा-निर्देश तय करने के लिए कहा। न्यायालय का कहना है कि केन्द्र एवं राज्य सरकारों के विज्ञापनों केन्द्रीय मन्त्री, मुख्यमंत्रियों, राज्यों के मंत्रियों व राज्यपाल समेत किसी भी नेता की तस्वीर व नाम नहीं होना चाहिए। साथ ही उनमें पार्टी का नाम, चुनाव चिन्ह, प्रतीक या किसी नेता का फोटो भी नहीं होना चाहिए। हालाँकि राष्ट्रीय नेताओं, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और मुख्य न्यायाधीश की तस्वीरें और नाम हो सकते हैं, लेकिन इनकी भी मंजूरी लेनी होगी कि विज्ञापन में उनकी तस्वीर और नाम इस्तेमाल किया जाये या नहीं।"

सर्वोच्च न्यायालय के इस आदेश के खिलाफ कई राज्यों जैसे-- तमिलनाडु, असम, कर्नाटक, पश्चिम बंगाल और केन्द्र सरकार ने पुनर्विचार याचिका दाखिल कर दी है। 17 फरवरी 2015 को केन्द्र सरकार ने एक याचिका में सरकारों के विज्ञापनों के नियमन के लिए दिशा-निर्देश का विरोध किया। सरकार की तरफ से कहा गया कि यह न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र में नहीं आता है। सरकार संसद के प्रति जवाबदेह हैं। यानी सरकार नहीं चाहती कि सर्वोच्च न्यायालय सरकार के किसी भी काम में बाधा डाले। सरकार सर्वोच्च न्यायालय के प्रति अपनी जवाबदेही नहीं मानती है।

अगर पिछले डेढ़ दशक में सरकारों द्वारा विज्ञापनों के इस्तेमाल पर एक नजर डालें तो राजग के "शाइनिंग इंडिया" और "भारत उदय" को, "फील गुड" को और फिर राजग के ही 'सबका साथ सबका विकास' और 'अच्छे दिन आने वाले हैं' जैसे नारों की असलियत को समझा जा सकता है। 'इण्डिया शाईनिंग' और 'भारत उदय' के विज्ञापनों पर पानी की तरह पैसा बहाया गया। फिर भी जनता को चमकता हुआ भारत कहीं भी नजर नहीं आया और एनडीए सरकार का उदय न होकर अस्त हो गया।

"विकास किया है विकास करेगें" भी संप्रग के कार्यकाल में हुए घोटालों पर पर्दा नहीं डाल सके। नतीजा देश की सब से बड़ी पार्टी विपक्ष में बैठने लायक भी नहीं रही। यानी इन विज्ञापनों में जनता को विकास की जगह अपना विनाश ही नजर आया।

सबका साथ सबका विकास, अच्छे दिन, हम महँगाई दूर करेंगे जैसे नारों को विज्ञापनों के जरिये पूरे भारत के जनमानस में ठूँस दिया जिसके चलते भाजपा पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता में आयी। सत्ता में आये उसे 18 महीने हो गये हैं। लेकिन अभी तक 'विकास जी' पैदा नहीं हुए। ऐसा लगता है जैसे विकास के पापा केवल मनमोदक खाते हैं और जनता को भी खिलाना चाहते हैं। सरकार भी विज्ञापनों की नाव पर

ही वैतरणी पार करना चाहती है। बल्कि विज्ञापनों ने एक देवदूत तो पैदा कर दिया, लेकिन चमत्कार न होते हैं और न ही हो पाया है उलटे इस देवदूत और विकास के मसीहा को दिल्ली और बिहार की जनता ने औंधे मुँह गिरा दिया। कहावत है कि कुछ लोगों को काफी समय तक और काफी लोगों को कुछ समय तक ही भ्रमित किया जा सकता हैं, लेकिन सभी लोगों को हमेशा के लिए भ्रमित नहीं किया जा सकता। विज्ञापन विकास नहीं कर सकते, महँगाई दूर नहीं कर सकते, देश की स्वास्थ्य और शिक्षा प्रणाली को ठीक नहीं कर सकते, विज्ञापन देश के अन्नदाता किसान की आत्महत्याओं का सिलसिला नहीं रोक सकते, न ही देश में रोजगार का सृजन कर बेरोजगारी को दूर कर सकते हैं। जब विज्ञापन इनमें से कुछ भी नहीं कर सकते तो फिर जनता का धन जनता पर खर्च करने के बजाय विज्ञापनों पर क्यों खर्च किया जा रहा है।

क्या जनता के सच्चे नेताओं और उनकी पार्टी को अपनी पहचान बनाने के लिए, अपने द्वारा किये गये काम का बखान करने के लिए विज्ञापनों की जरूरत पड़ती हैं अगर विज्ञापनों की जरूरत होगी भी तो जनता को जागरूक करने के लिए होगी, जैसे-बच्चों को पढ़ने भेजने का महत्त्व क्या है, टीकाकरण क्यों जरूरी है, महिलाओं के क्या अधिकार है, पर्यावरण को अच्छा बनाये रखना हमारे लिए क्यों जरूरी है, साम्प्रदायिकता फैलने से देश को क्या हानि होती है, तर्कशीलता और वैज्ञानिक सोच हमें अन्धविश्वासों से कैसे बचाती है और वैज्ञानिक सोच किसी भी समाज और देश को आगे कैसे बढ़ाती है। क्या आज के नेता ऐसी जागरूकता फैलाने का काम करेंगे?

विज्ञापन है क्या? इसे कौन इस्तेमाल करता है और क्यों?

आम तौर पर विज्ञापन का मतलब होता है प्रचार या मशहूरी। कम्पनियाँ अपना माल बेचने के लिए विज्ञापन का इस्तेमाल करती हैं। यह बताने के लिए कि उसका सौदा सबसे खरा है। उसका सौदा ग्राहक के लिए बहुत जरूरी है। उसके बिना काम नहीं चलने का। जैसे फेयर एण्ड लवली क्रीम अगर नहीं लगाओगे तो आप काले ही रह जाओगे और काले रहे तो आपकी शादी नहीं होगी। फलाँ ब्राण्ड का कच्छा-बनियान पहनकर पहलवान बन जाओगे। फलाँ ब्लेड से दाढ़ी बनाकर आप 'हैण्डसम हंक' बन जायेंगे, इत्यादि। हमारी सरकार और उसे चलानेवाले नेता भी लगता है कि अपना नकली माल जनता के गले मढ़ना चाहते हैं। विज्ञापनों और मन की बात का प्रसारण करके आज पर्यावरण संकट से लड़ा जा रहा है, बेटियों को पढ़ाया, बचाया और बढ़ाया जा रहा है, कौशल विकास (स्किल-डेवलपमेंट) किया जा रह है; किसानों को खुशहाल बनाया जा रहा है, मेड इन इण्डिया की जगह मेक इन इण्डिया को जायज ठहराया जा रहा है, विदेशी निवेशकों के जरिये ही आज भारत तरक्की कर सकता है यह जोर देकर विज्ञापनों द्वारा देश की जनता को बताया और समझाया जा रहा है। भारत को दुनिया की चोटी पर और विकास की नयी ऊँचाइयों तक पहुँचाने में विज्ञापन का गुब्बारा ही काम आ रहा रहा है। यहाँ तक कि चीन को भी आर्थिक वृद्धि दर में पीछे छोड़नेवाली शक्ति भी विज्ञापन ही है। लेकिन जब विज्ञापन का गुब्बारा पिचकता है और सच्चाई सामने आती है तो पता चलता है कि हमारा देश गरीबी, भुखमरी, कुपोषण और बेरोजगारी में अपने पड़ोसी देश पाकिस्तान, बांग्लादेश और श्रीलंका से भी निचले पायदान पर है। यहाँ प्रसव के समय दुनिया-भर में सबसे ज्यादा महिलाएँ मरती हैं, यहाँ के बच्चों में कुपोषण अफ्रीकी देशों से भी ज्यादा है। यहाँ मानव विकास सूचकांक हर साल बदतर होता जा रहा है। यानी विज्ञापनों से देश को गुमराह किया जा रहा है।

इन विज्ञापनों का जहर किस तरह आम जनमानस के दिलो दिमाग में भर दिया गया है, इसे हम एक ताजा उदाहरण से भी समझ सकते हैं, जिस समय चेन्नई शहर बाढ़ के कहर में डूब रहा था ठीक उसी दौरान शहर में एक चमत्कारी विज्ञापन लहरा रहा था उस सरकारी विज्ञापन में तमिलनाडु की मुख्यमंत्री जयललिता बाढ़ के पानी में गले तक डूबी एक बच्ची को पानी से निकलकर हाथ में उठाये दिख रही हैं। इसे चमत्कार कहा जाये या रजनीकान्त का एक स्टंट!

जमीनी हकीकत यह है कि अभी तक इस आपदा ने कितने लोगों की जिन्दगी लील ली, कितने घर बह गये, कितने परिवार बेघर हो गये, कितने लोग लापता हैं, कितनी फसल नष्ट हो गयी, कितनी जमीन बह गयी और जनधन का कितना नुकसान हुआ इसका अनुमान लगाना मुश्किल है। जहाँ गटर का पानी और पीने का पानी एक हो गया हो, जहाँ लोग भूख से मर रहे हों, पानी के लिए तरस रहे हों, वहाँ सबसे जरूरी है कि उनके खाने-पानी और जरूरी चीजों की व्यवस्था की जाये, उनकी जिन्दगी को दोबारा पटरी पर लाया जाये, यह सोचा जाय कि बाढ़ के बाद गन्दगी और महामारी को किस तरह रोकें लेकिन ये कैसा क्रूर मजाक है कि मुख्यमंत्री अम्मा जी जनता के धन से सरकारी विज्ञापनों में अपनी मसीहाई छवि परोस रही हैं।

विज्ञापनों का ही असर है कि जब अम्मा जी को आय से अधिक सम्पत्ति के लिए जेल भेजा गया तो उसकी रिहाई के लिए वहाँ के लोग आन्दोलन और आत्मदाह करने तक चले गये।

आज सभी पार्टियों के नेता और उनकी सरकारें जनसम्पर्क के लिए जनता के बीच जाकर उनका दुःख-दर्द सुनने की जगह जनसम्पर्क में लगी देशी-विदेशी कम्पनियों के ऊपर निर्भर होती जा रही हैं। वे कम्पनियों को ठेका देती हैं, कम्पनियाँ उनके लिए झूठ गढ़ती हैं और उसे इतना विश्वसनीय बनाकर विज्ञापनों में पेश करती हैं कि झूठ भी लोगों को सच लगने लगता है। वाद-विवाद गायब, राजनीतिक बहस गायब, बचा है केवल झूठ को सच बनाने का माया जाल। हमें इस मायाजाल को काटने, झूठ का भण्डाफोड़ करने, सच्चाई को जानने का भरपूर प्रयास करना होगा।

टीपू सुल्तान हाजिर हो...!

-प्रवीण कुमार

हाल ही में कुछ राष्ट्र भक्तों ने टीपू सुल्तान को इतिहास के अभिलेखगार से वर्तमान की अदालत में आने के लिए मजबूर किया। यह दरवेश अपनी आरामगाह में आधुनिक समाज के ख्वाब बुनने में मसरूफ था। जनता की अदालत अपने 'मैसूर के शेर' के तेजमय, गर्वीले चहेरे को साफ-साफ न देख सके, इसके लिए ये आततायी जनता के बीच खास किस्म का चश्मा बाँटते फिर रहे थे।

यह चश्मा इमरजेंसी लगाते समय, सिखों का कत्लेआम करते समय, परमाणु बम फोड़ते समय, गणेश जी को दूध पिलाते हुए, बाबरी मस्जिद को ढहाते हुए, डंकल प्रस्ताव पर हस्ताक्षर करते समय, एनरॉन को मुनाफे की गारंटी देते समय, गुजरात नरसंहार के समय, कारगिल युद्ध के समय, मेक इन इंडिया के नारे की आड़ में देश बेचते समय, बार-बार बाँटा जाता है और इसने बेशक की भारत की जनता की नजर को धुँधला भी किया है। प्राचीन ब्रिटिश अपनिवेशवाद से उधार लिए गये लेंस और अमरीकी आर्थिक नवउपनिवेशवाद के फ्रेम से निर्मित इस चश्में के शिल्पकार भारत के नव-नाजी हैं। भारत के अतीत और वर्तमान में जो कुछ भी सकारात्मक है उसे विकृत करना चाहते हैं, उस पर स्याही पोतना चाहते हैं। देशभक्तों का दूसरा समूह टीपू को जयन्ती की मालाओं में कैद करना चाहता है। प्रख्यात इतिहासकार रोमिला थापर का यह कहना कि साम्राज्यवाद और साम्प्रदायिकता का चोली दामन का साथ है बिलकुल सही है। हमें टीपू सुल्तान को उसके दौर में जाकर नंगी आँखों से देखना चाहिए।

टीपू सुल्तान (पूरा नाम-- फतेह अली) का जन्म 1751 में बंगलौर से 40 किलोमीटर दूर देवनहल्ली में हुआ। उनके पिता हैदर अली मैसूर राज्य की सेना में एक साधारण अनपढ़ सिपाही थे। अपने हाथों अपना भविष्य बनाते हुए वे 1761 में मैसूर की गद्दी पर बैठे। उस समय दिल्ली की मुगल सल्तनत छिन-भिन्न हो चुकी थी। पानीपत की लड़ाई में अहमद शाह अब्दाली से हारकर मराठों की भी कमर टूट चुकी थी। पूरे देश में कोई बड़ा साम्राज्य नहीं बचा था और छोटे-छोटे राजा आपस की लड़ाइयों में उलझे हुए थे। दूसरी ओर ईस्ट इंडिया कम्पनी एक मजबूत ताकत के रूप में स्थापित हो चुकी थी। लगभग पूरा भारतीय उपमहाद्वीप उनके प्रभाव में आ चुका था और उनके सामने कोई बड़ी चुनौती नहीं थी। इसी दौर में हैदर अली ने मराठा शासक, कर्नाटक और हैदराबाद के निजाम के खतरे के साये में अपनी ताकत बढ़ायी। अंग्रेजों के विजय अभियान को भारत में सबसे पहले हैदर अली ने 1767 के आँग्ल-मैसूर युद्ध में रोक दिया। अंग्रेज बुरी तरह हारे और घुटने टेककर सन्धि करने पर मजबूर हुए। 1780-84 में हुए दूसरे आँग्ल-मैसूर युद्ध में भी अंग्रेजों को पीछे हटना पड़ा। इसी दौरान 1782 में हैदर अली की मृत्यु हो गयी और टीपू सुल्तान मैसूर की गद्दी पर बैठे। अंग्रेजों के समूल नाश की तैयारी करते हुए टीपू ने तेजी से राज्य का विस्तार किया। 1789-1792 में हुए तीसरे युद्ध में मराठा और निजाम ने अंग्रेजों का साथ दिया और टीपू के कई संगी-सहयोगी विश्वासघात करके अंग्रेजों से जा मिले। 4 मई 1799 को चौथे आंग्ल-मैसूर युद्ध में ही टीपू ने शहादत का जाम पिया।

टीपू पर एक धर्मान्ध मुस्लिम शासक होने, गैर धर्म के लोगों का जबरन धर्मपरिवर्तन कराने, हिन्दुओं और ईसाइयों के पूजा स्थलों को गिराने और गैर-धर्म के लोगों का जनसंहार करने का अभियोग राष्ट्रभक्तों ने लगाया है। इनका आधार हुसैन अली-खान-किरमाती की दो पुस्तकों निसान-ए-हैदरी का 1842 और 1864 में हुआ संदिग्ध अनुवाद है। किरमानी ने जब मूल किताब लिखी थी तो वह कलकत्ता की जेल में अंग्रेजों के कैदी थे। इसके अलावा ब्रिटेन की संसद में टीपू के खिलाफ प्रस्ताव पास कराने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा तथ्यों के रूप में पेश किये गये अपने सिपाहियों और नागरिकों के बयान हैं। इन्हीं बयानों के आधार पर लिखी गयी, कम्पनी से आर्थिक सहायता प्राप्त कुछ अंग्रेज लेखकों की किताबें भी हैं।

किरमानी की किताब के अनुवाद में कहा गया है कि टीपू ने कुर्ग, कोडगू इलाके के 80 हजार लोगों को जबरन मुसलमान बनाया। कमाल यह है कि इसके 50 साल बाद 1840 के अंग्रेजों के दस्तावेजों में ही इस इलाके की कुल आबादी लगभग 80 हजार आँकी गयी थी। 100 साल बाद 1871 में हुई पहली जनगणना में इस इलाके में हिन्दुओं की आबादी 1,54,476 पायी गयी। जबकि मुसलमानों की 11,304 इन आँकडों की मौजूदगी और जानकारी के बावजूद टीपू पर जबरन धर्म परिवर्तन का आरोप लगाना मूर्खता नहीं एक गहरी साजिश है।

टीपू पर अभियोग है कि उसने मालाबार के नायर ब्राह्मणों का जबरन धर्म परिवर्तन कराया। इसका आधार है कि उसने नायर समाज में गणिका और बहुपति प्रथा (एक सामाजिक वेश्यावृत्ति) को जबरन

बन्द करा दिया। क्या आज, टीपू के 250 साल बाद हम लोग अपने समाज में ऐसी प्रथा स्वीकार करेंगे? नहीं, बिलकुल नहीं। इसका अर्थ है कि टीपू हमसे 250 साल पहले आधुनिकता के पक्ष में खड़ा था। दूसरे, किसी गलत प्रथा को बन्द कराने का अर्थ जबरन मुसलमान बना देना नहीं होता बल्कि समाज सुधार होता है। इतिहासकार के. एम. पणिक्कर ने अपनी पुस्तक ''केरल का इतिहास 1498-1801'' में कहा है कि ''यह धर्मान्धता नहीं थी जिसके चलते टीपू ने यह घोषणा जारी की। वह दृढ़तापूर्वक मानता था कि वह नायरों से अश्लील आदतें छोड़ने के लिए कह रहा है, वह सभ्यता का अभियान चला रहा था।''

डॉ. मिशेल सोरास ने 2013 में मैरीलैण्ड विश्वविद्यालय में भारत के इतिहास से सम्बन्धित एक शोध प्रबन्ध जमा कराया था। इस पर उन्हें 'डॉक्टर' की उपाधी भी मिल चुकी है। यह शोध प्रबन्ध अभिलेखागार के उस दौर के रिकार्डों और अखबारों की खबरों पर आधारित है। उन्होंने बताया है कि ''टीपू की निन्दा का सम्बन्ध साम्राज्यवादी संस्कृति के विकास से है। विस्तारवादी गवर्नर जनरलों ने अपने घरेलू श्रोताओं की नजरों में अपनी आक्रामक कार्रवाइयों को ज्यादा स्वीकार्य बनाने के लिए टीपू के चरित्र पर कीचड़ उछाली है।'' क्या आज के साम्राज्यावादियों के धर्मान्ध राष्ट्रभक्त भी ठीक यही काम नहीं कर रहे हैं। देश की जनता को तालिबानी अन्धे कुएँ में धकेलने और अपनी धर्मान्ध आतंककारी गतिविधियों जिसे वे देशभक्ति कहते हैं, को जायज ठहराने के लिए साम्राज्यावादियों के अनुचर झूठ का गर्दो-गुबार फैलाते हैं। श्रीरंगपट्टन जानेवाला कोई भी व्यक्ति (अन्धा भी) टीपू के महल से चन्द कदमों की दूरी पर श्रीरंगनाथन स्वामी के मन्दिरों को देख सकता है। ये मन्दिर टीपू के दौर से काफी पुराने हैं। अगर टीपू इनकी तरह धर्मान्ध होता तो क्या वह अपनी राजगद्दी के पास के मन्दिरों को छोड़कर 200 मील दूर का छोटा-सा मन्दिर गिराने जाता। कर्नाटक और केरल के मन्दिरों के दस्तावेज बताते हैं कि टीपू ने 156 से ज्यादा मन्दिरों को धन, जमीनें और कीमती उपहार दिये। वह मराठा सेनाओं द्वारा तबाह कर दिये गये मन्दिर में मूर्ति की स्थापना कराने और मन्दिर का पुनर्निर्माण कराने खुद गया था। श्रिंगेरी के स्वामीजी को लिखे टीपू के खत आज भी मौजूद हैं। इन खतों को पढ़कर कोई भी बता सकता है कि बाबरी मस्जिद ढहानेवालों और टीपू के बीच उतना ही अन्तर है जितना मुल्ला उमर के तालिबानों और शिवाजी में है।

आज तक दुनिया में कोई भी शासक ऐसा नहीं हुआ जिसने अपनी सत्ता के लिए खतरा बने विरोधियों का सफाया न किया हो। राज्य की मशीनरी का काम ही है अपने शासन की रक्षा और विरोधियों का खात्मा। इसमें जाति, धर्म देखने का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। आज के शासक भी यही करते हैं। तेभागा, तेलंगाना, ग्वालियर, पन्तनगर, बेलाडीला, नन्दीग्राम, सिंगूर, भट्टा पारसोल, गुडगाँव जैसे हजारों उदाहरण हैं। लक्ष्मण भी लव-कुश से लड़ने और उन्हें मारने ही गये थे। क्या महाराणा प्रताप के भाले पर हिन्दुओं के खून और अकबर की तलवार पर मुसलमानों के खून के निशान नहीं थे। पाण्डवों ने भी अपने 100 भाइयों का कत्ल किया था और निश्चय ही टीपू भी इसका अपवाद नहीं हो सकता। उसने सवानूर, कोड्प्पा और कुरनूल के निजामों का भी शासन छीना था और अंग्रेजों की मदद कर रहे मालावार और मालद्वीप के मुसमानों का भी खून बहाया था।

क्या है जो टीपू को महान बनाता है?

टीपू सामाजिक समानता के पक्ष में था। वह जाति प्रथा का कट्टर विरोधी था। उसने जमींदारी प्रथा को खत्म करके समाज में जाति विशेष के वर्चस्व को तोड़ने की कोशिश की। यही काम केवल सीमित दायरे में करने के प्रयास के चलते उत्तर प्रदेश के किसान चौधरी चरण सिंह को कितना मानते हैं। टीपू ने उनसे 200 साल पहले यही काम ज्यादा शानदार तरीके से किया था और किसानों को सीधे राजा को कर देने की व्यवस्था की थी। इससे खेती, व्यापार और जनता के जीवन स्तर में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई। समाज में जातिगत असमानता कमजोर हुई। केरल के कुछ हिस्सों में दलित जाति की औरतें, शरीर के ऊपरी भाग में कपड़ा नहीं पहन सकती थी। टीपू ने इस प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाया। फरमान से भी और तलवार से भी। इसीलिए आज के शासक टीपू से डरते हैं।

जिस वक्त सारे भारत के राजा सामन्ती निन्द्रा में सोये पड़े थे तब टीपू व्यापार और उद्योग को राज्य के नियंत्रण में लानेवाला पहला शासक बना। उसने अपने राज्य में बहुत से व्यापार और विनिर्माण के केन्द्र स्थापित किये। मस्कट, जेद्दा, बशरा, जैसे विदेशी शहरों में राज्य के खर्च से व्यापारिक केन्द्रों का निर्माण करावाया। कर्नाटक की मशहूर मैसूर सिल्क का पहला कारखाना (मानवचालित) लगानेवाला और इसके विदेशी व्यापार को बढ़ावा देनेवाला टीपू ही था। वास्तव में उसने राजकीय पूँजीवादी व्यवस्था को स्थापित करने की शुरुआत की थी। उस दौर में यूरोप में यह व्यवस्था स्थापित हो जाने का ही परिणाम है कि आज भारत और यूरोप में स्वर्ग और नरक तथा मालिक और गुलाम का अन्तर है। यही वजह थी जो ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए टीपू के खिलाफ दुष्प्रचार की हदें पार करना और उसे खत्म करना जरूरी हो गया था और हमारे आज के शासक टीपू को देखकर कुंठित होते है।

पूर्व राष्ट्रपति अब्दुल कलाम को ''मिसाइल मैन'' का खिताब दिये जाने पर उन्होंने कहा था कि इसका असली हकदार टीपू सुल्तान है। उन्होंने बिलकुल सच कहा था। टीपू ही दुनिया का पहला शासक था जिसने अपने आयुधों को लोहे के रॉकेट की शक्ल दी थी। उस दौर के तमाम दस्तावेज दिखाते हैं कि उसका युद्ध भंडार अंग्रेजों के मुकाबले ज्यादा आधुनिक था। इन्हीं लोहे के रॉकेटों ने फ्रांस पर इंग्लैण्ड की जीत में भूमिका निभायी थी। टीपू ने

जलसेना का निर्माण किया और इसे व्यापारिक जहाजों की रक्षा का जिम्मा भी सौंपा। आखिरी आँग्ल-मैसूर युद्ध में उसकी सेना अंग्रेजों और उनके समर्थकों की सेना से बहुत छोटी थी और उसकी आधुनिक सोच से चिढ़े बैठे मंत्रियों और पड़ोसियों ने उससे गद्दारी की थी।

टीपू की महानता का सबसे प्रमुख आधार यह है कि वह पहला भारतीय शासक था जिसने तेजी से बदल रही और एकाकार हो रही दुनिया की गति को भाँप लिया था। उसने देश के हितों के अनुकूल विदेश नीति पर अमल करना शुरू कर दिया था और अफगानिस्तान से लेकर इटली व फ्रांस तक से राजनीतिक और व्यापारिक रिश्ते बनाये थे। वह यूरोप में उद्घाटित हो रही नयी दुनिया से परिचित और प्रभावित था। उसके दस्तावेज बताते हैं कि वह इटली के पुनर्जागरण, जर्मनी के प्रबोधन और फ्रांस की क्रान्ति से गहराई तक प्रभावित था। स्वतंत्रता, समानता, भाईचारे के लोकतांत्रिक मूल्यों की उस पर छाप पड़ी थी। वह खुद को ''नागरिक'' टीपू कहलवाना पसन्द करता था। आदमी के सामने आदमी को झुकानेवाली सजदा, कोर्निस जैसी रस्मों को अपने दरबार में खत्म करा दिया था। लोकतांत्रिक मूल्यों का व्यवहारिक आभास करने के लिए उसने श्रीरंगपट्टन में एक क्लब की स्थापना की जिसके 59 सदस्य विदेशी (यूरोपीय) और टीपू खुद थे। क्लब का नियम था कि सभी सदस्य एक-दूसरे को नागरिक कहेंगे और आपस में पूर्ण समानता का व्यवहार करेंगे।

विडम्बना तो यह है कि 'मैसूर के शेर' को गवाहियों के लिए तलब करनेवाले वे लोग हैं जिनका अपना इतिहास और वर्तमान साम्राज्यवादियों के सामने नाक रगड़ने की घटनाओं से भरा पड़ा है। टीपू पर कीचड़ उछालने की कोशिश करने का कारण मात्र यह नहीं है कि वह मुसलमान शासक था। इसके पीछे छिपा हुआ असली कारण यह है कि वही भारत का पहला शासक था जिसने अंग्रेज साम्राज्यवादियों को जड़ से उखाड़ने की कोशिश की थी। उसने स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे पर आधारित समाज के निर्माण का सपना देखा था। वह शायद भारत का इकलौता शासक है जिसके शहादत दिवस पर उर्स मनाया जाता है। वह केरल और कर्नाटक के लोक गीतों में आज भी जिन्दा है। यही बातें साम्राज्यवादियों के धर्मान्ध अनुचरों को स्वीकार नहीं है। यह महज इत्तेफाक नहीं है कि टीपू पर कीचड़ उछालने के लिए वह समय चुना गया जब राष्ट्र भक्तों का झण्डाबरदार, इंग्लैड की महारानी के साथ उसके महल में दावत उड़ाकर खुद को गौरवान्वित महसूस कर रहा था। ये वही महल है जिसके एक-एक पाये तले भारत के हजारों किसानों और कारीगरों की लाशें दबी हैं। बंगाल के अकाल में मरे लाखों भारतीयों का लहू आज भी इसकी छत से टपकता है।

भारतीय इतिहास कांग्रेस के पूर्व अध्यक्ष, प्रख्यात वयोवृद्ध इतिहासकार प्रो. बी. शेख अली टीपू के इतिहास का विश्लेषण करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं- ''वह एक ऐसा व्यक्ति था जिसने अपना जीवन एक स्वतंत्र भारत का इतिहास लिखने के लिए समर्पित कर दिया। उसका जीवनसूत्र यह था कि एक गीदड़ की तरह सौ साल जीने के बजाय एक शेर की तरह एक दिन जीना ज्यादा अच्छा है। उसके जीवन का उद्देश्य अंग्रेज साम्राज्यवादियों को तबाह करना था और इस उद्देश्य को हासिल करने के लिए उसने वह सब किया जो वह कर सकता था। वह अपने उद्देश्य से कभी नहीं भटका, उसने अपने सिद्धान्तों से कभी भी समझौता नहीं किया और विदेशी प्रभुत्व के साथ खुद को कभी भी नहीं जोड़ा। उसने भारत के यूरोपीय शोषण को रोकने की कोशिश की और यही कोशिश करते हुए शहीद हुआ। ऊपरी तौर पर लगता है कि वह अपने उद्देश्यों को हासिल करने में असफल रहा लेकिन उसने इतिहास के पन्नों पर एक गहरी छाप छोड़ दी।'' टीपू की तरह स्वतंत्रता, समानता, भाईचारे का सपना देखनेवाले तमाम लोगों के लिए लाजिमी है कि वे टीपू के जीवनसूत्र को अपनाकर अपने उद्देश्य में जुट जायें।

राजनीतिक पार्टियाँ को पूँजीपतियों का चन्दा

पूँजीपति घरानों ने 2014-2015 में भाजपा को 410 करोड़ और काँग्रेस को 128 करोड़ चन्दा दिया। नेशनल इलेक्शन वाच और एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफोर्म की ताजा रिपोर्ट यह बताती है कि बड़े पूँजीपति घरानों की दो बड़ी राजनीतिक पार्टियों पर कितनी मजबूत पकड़ है। रिपोर्ट में राजनीतिक पार्टियों द्वारा चुनाव आयोग को चन्दे का जो विवरण प्रस्तुत किया गया, उसका विश्लेषण किया गया, जिससे पता चलता है कि इन दोनों पार्टियों ने कुल 622.38 करोड़ का चन्दा हासिल किया, जिसमें से 576.37 करोड़ पूँजीपति घरानों ने दिया शेष राशि अलग-अलग व्यक्तियों से प्राप्त हुई। भाजपा के कुल 437.96 करोड़ में से 409.94 करोड़ चन्दा 794 पूँजीपतियों ने दिया, जबकि काँग्रेस के कुल 141.46 करोड़ में से 127.96 करोड़ का चन्दा 121 पूँजीपतियों ने दिया यानी भाजपा ने 93.4 प्रतिशत और काँग्रेस ने 90.5 प्रतिशत चन्दा पूँजीपति घरानों से हासिल किया। रिपोर्ट के मुताबिक इन पार्टियों ने अपने चन्दे का पूरा विवरण जमा नहीं किया है। भाजपा ने 83.92 करोड़ के चन्दे के बारे में दान देनेवालों का पैन नम्बर, पैसा देने का माध्यम और पता नहीं दिया था, इसकी जगह पर केवल नाम और राशि लिखा हुआ था। सबसे ज्यादा चन्दा देनेवालों में भारती मित्तल और आदित्य बिरला शीर्ष पर रहे। भारती ग्रुप के सत्य इलेक्टोरल ट्रस्ट ने भाजपा को 117.30 करोड़, यानी पार्टी को मिले कुल चन्दे का 25 प्रतिशत और काँग्रेस को 18.75 करोड़, यानी कुल चन्दे का 13 प्रतिशत अकेले दे दिया। इसी तरह आदित्य बिरला के जेनरल इलेक्टोरल ट्रस्ट ने 63.2 करोड़ भाजपा को दिया जो उसके कुल चन्दे का 14 प्रतिशत है, जबकि काँग्रेस के कुल चन्दे का 38 प्रतिशत, यानी 54.10 करोड़ रुपये अकेले बिरला ने ही दिया। कहावत है कि जिसका खायेंगे, उसका गायेंगे। देश की दो बड़ी पार्टियाँ किसका खा रही हैं और किसका गा रही हैं, इसे समझने के लिए समुद्री विद्या जानने की जरूरत नहीं है।

कैग ने किया 1,00,000 करोड़ के राइस मिल घोटाले का खुलासा

धान की कुटाई करनेवाले राइस मिल के मालिक भूसी बेचकर खूब मुनाफा कूट रहे हैं। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के धान की कुटाई से निकलनेवाली भूसी, चोकर, चावल की किन्नी और कोण का अच्छी-खासी माँग और कीमत है। इस पर उन्हें एक पैसा भी खर्च नहीं करना पड़ता, जबकि अच्छी कमाई का जरिया है।

नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक (कैग) की रिपोर्ट ने अनुमान लगाया है कि इसके चलते सार्वजनिक कोष को हर साल 10,000 करोड़ का चूना लग रहा है। राइस मिल के अधिकांश मालिक या तो राजनीतिक पार्टियों के नेता हैं या उनसे उनके गहरे रिश्ते हैं। यह सब दस सालों से चल रहा है, यानी कुल घाटा 1,00,000 करोड़ से भी ज्यादा है। इस तरह यह 2जी और कोलगेट जैसे महाघोटालों के सिलसिले की अगली कड़ी है। अपनी एक अन्य रिपोर्ट में कैग ने इस साल धान की खरीद पर केन्द्र और कुछ राज्य सरकारों द्वारा राइस मिलों को लगभग 50,000 करोड़ का नाजायज फायदा पहुँचाये जाने का भी खुलासा किया है। ये दोनों रिपोर्ट दिसम्बर में संसद के पटल पर रखी गयी।

केन्द्र और राज्य सरकार की खरीद करनेवाली संस्थाएँ किसानों से धान खरीदकर उसे राइस मिलों को देती हैं। 100 किलो धान के बदले में राइस मिलें सरकारी संस्थाओं को 68 किलो सेला (उसना) चावल या 67 किलो अरवा चावल देती हैं और उनसे कुटाई का 87 रुपये लेती हैं। बाकी बचे 32-33 किलो उप-उत्पादों को बाजार में बेचकर पैसा खुद रख लेती हैं। ओडिसा स्थित केन्द्रीय चावल शोध संस्थान के मुताबिक राइस मिलें 100 किलो धान के उप-उत्पाद से औसतन 22 किलो भूसी, 8 किलो चोकर और 2 किलो चावल की किन्नी निकालती हैं। पिछले कुछ वर्षों से इन चीजों की कीमते चावल से भी तेज रफ्तार से बढ़ी हैं।

धान से निकलनेवाली भूसी और चोकर बिजली, दवा, घोलक, ईट भट्ठा और शराब जैसे कई उद्योगों में काम आते हैं। चोकर से तेल पशु चारा इत्यादि बनते हैं, जबकि भूसी से बिजली बनती है और उसकी राख से दवा उद्योग में काम आनेवाला सिलिका बनता है। इन सभी चीजों की औसत कीमत लगायी जाय तो राइस मिलों को 100 किलो धान की कुटाई पर औसतन 169 रुपये बच जाते हैं, जो कुटाई के 87 रुपये से अतिरिक्त हैं। चूँकि हर साल लाखों टन धान की कुटाई होती है, इसलिए कुछ बड़ी राइस मिलों ने अलग से इन उप-उत्पादों से जुड़े उद्योग लगाना भी शुरू कर दिया है।

सरकारी संस्थाएँ इन उप-उत्पादों को फालतू मान कर इनके उपयोग या बिक्री से इनकार करती हैं, जबकि इनके बाजार, कीमत और उपयोग के लिखित प्रमाण मौजूद हैं। फिर भी आश्चर्य है कि सरकार इनके बाजार भाव का मूल्याँकन नहीं करती हैं और राइस मिलों को बिना शर्त इनका मालिकाना हक देती है।

कैग ने अपनी ऑडिट रिपोर्ट में सरकार द्वारा धान के उप-उत्पाद राइस मिलों को मुफ्त में बेचने की नीति की आलोचना की है। कैग ने पूछा है कि जो भूसी-चोकर सरकार की सम्पत्ति है, उसे बिना मोल लिए राइस मिलों को कैसे दिया जा सकता है? विशेष रूप से यह एक चिन्ता का विषय है कि एक के बाद एक आनेवाली अटल बिहारी वाजपेयी, मनमोहन सिंह और नरेन्द्र मोदी की सरकारों ने सच्चाई को जानते हुए भी इस नीति को जारी रखा और देश को भारी क्षति पहुँचने दिया। कैग के मुताबिक 2003 में वाजपेयी के शासन काल में बनी राइस मिल नीति से अब तक धान कुटाई के उप-उत्पादों से हासिल 1,00,000 करोड़ रुपये से भी अधिक की सार्वजनिक सम्पत्ति राइस मिल मालिक की तिजोरी में पहुँचायी जा चुकी है। इसके अलावा चूँकि ज्यादातर राइस मिल मालिक इस आमदनी को आय में शामिल नहीं करते या बहुत कम करते हैं, इसलिए इस कमाई पर करोड़ का टैक्स भी वे सरकार को नहीं चुकाते।

इस पूरे मामले को सामने लाने के लिए लगातार पाँच सालों तक प्रयास करने और कैग तक पहुँचनेवाले ओडिसा के गौरीशंकर जैन के मुताबिक यह सारा घपला सरकारी अधिकारियों, नेताओं और मिल मालिकों की साँठ-गाँठ की वजह से हुआ है। सार्वजनिक धन को जनता की तिजारी के बजाय मिल मालिकों की तिजोरी में पहुँचाने के लिए यही अपवित्र गठबन्धन जिम्मेवार है।

आश्चर्य की बात यह कि कांग्रेस राज में होनेवाले घोटालों को मुद्दा बनाकर जनता में आक्रोश पैदा करनेवाला मीडिया और भ्रष्टाचार के खिलाफ आग उगलनेवाली पार्टियाँ और नेता आज इतने बड़े घोटाले पर मुँह नहीं खोल रहे हैं। इन दोनों घोटालों को मिला दिया जाय तो यह 1,50,000 करोड़ रुपये का बैठेगा। उनमें केन्द्र और राज्य में इन्हीं पार्टियों के बीच इस मुद्दे पर नूरा कुश्ती हो रही है। दरअसल भ्रष्टाचार इस व्यवस्था के रग-रग में व्याप्त है। हर कीमत पर सरमायादारों की तिजोरी भरना और बदले में अपनी सात पीढ़ियों के लिए धन जुटाना ही आज की राजनीति का अन्तिम लक्ष्य हो गया है।

एप्पल कम्पनी का शोषण का नायाब तरीका

साम्राज्यवादियों के वंशज के रूप में आज बहुराष्ट्रीय निगम (एमएनसी) भारत जैसे देशों के संसाधन और सस्ते श्रम की लूट-खसोट को जारी रखे हुए हैं। ये कम्पनियाँ बेरोजगारों की भीड़ का फायदा उठाकर नौजवानों से कठोर और अमानवीय शर्तों पर काम करवाती हैं। अमरीकी पूँजीपति सैमुअल इनसुल के शब्दों में ''मेरा अनुभव यह है कि मजदूरों की क्षमता बढ़ानेवाली सबसे बड़ी सहायता फैक्ट्री गेट पर आदमियों की लम्बी कतार है।'' काम करनेवाले लोगों में यह डर कि कहीं वे बाहर की भीड़ में शामिल न हो जायें, शोषण को बढ़ाने में मदद करता है। यही वजह है कि पूँजीपतियों की हितैषी सरकारों की दिलचस्पी नये रोजगार पैदा न करके बेरोजगारी का डर दिखाकर सस्ता श्रम हासिल करने में है। बेरोजगारी के लिए जिम्मेदार यह मानवद्रोही व्यवस्था बेरोजगारी के दम पर पूँजी संचय करने में लगी हुई है। इसका सजीव और ताजा उदाहरण है-- अमरीकी कम्पनी एप्पल।

एप्पल के काम कराने का तौर-तरीका

एप्पल कम्पनी आई पैड, आई फोन और कम्प्यूटर बेचती है। साथ ही यह इन उपकरणों की डिजाइन, मार्केटिंग और प्रबन्धन को भी देखती है। इसने 2011, 2012 और 2013 में क्रमशः 108, 156 और 170 अरब डॉलर की बिक्री की। करोड़ों आई पैड बेचनेवाली इस कम्पनी की अपनी कोई उत्पादन इकाई नहीं है। एप्पल की प्रबन्धन टीम उत्पादों के निर्माण के लिए मुख्यतः एशिया में ठेकेदारों की एक पूरी शृंखला को सम्भाले हुए है। इसके प्रबन्धकों ने दुनिया-भर में ठेकेदारों का चयन इस तरह किया है कि उत्पादन में श्रम की लागत को न्यूनतम स्तर पर लाया जा सके। इसका अनुमान इस तथ्य से लगया जा सकता है कि एप्पल के कुल 748 ठेकेदारों में से 82 फीसदी एशिया में हैं। उनमें से 351 तो अकेले चीन में है। कोई इस धोखे में रह सकता है कि आज पूरब इतना उन्नत हो गया है कि पश्चिम के लिए उत्पादन कर रहा है। लेकिन सच्चाई इसके विपरीत है। आज भी यूरोपीय और अमरीकी कम्पनियों की गिद्ध दृष्टि तीसरी दुनिया के प्राकृतिक संसाधनों और सस्ते श्रम पर लगी हुई है। किसी भी तिकड़म से वे इन्हें हासिल करना चाहती हैं। पूँजीवादी व्यवस्था का मुख्य लक्षण है ''अधिक से अधिक मुनाफा''। किसी भी कीमत पर। देशों को गुलाम बनाकर, अफीम बेचकर, हथियार और बम बेचकर या सेक्स सीडी का कारोबार करके। पूँजीवाद के इन्हीं काले अध्यायों में एप्पल जैसी दिग्गज कम्पनियाँ राजनीतिक गठजोड़ करके सस्ते श्रम और सार्वजनिक संसाधनों की लूट के नये अध्याय जोड़ रही हैं। 21 वीं सदी में पूँजीवाद पुराने तरीके से उपनिवेश और राष्ट्रों को गुलाम बनाने की स्थिति में नहीं है। लेकिन पूँजीवाद अपनी लूट-खसोट की मंशा पर कायम है, आज उसने तीसरी दुनिया के देशों के संसाधनों की लूट और श्रम के शोषण का तरीका बदल लिया है।

एप्पल कम्पनी उपकरणों का उत्पादन जिन स्थानीय ठेकेदारों के यहाँ करा रही है वहाँ श्रम के शोषण और अमानवीय परिस्थितियों का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि एप्पल का ठेका लेनेवाली चीन की फोक्सकोन फैक्ट्री में 18 से 25 साल की उम्र वाले अठारह मजदूरों ने पिछले दिनों आत्महत्या का प्रयास किया। जिनमें से 14 की जीवन लीला समाप्त हो गयी बाकी जीवन-भर के लिए अपंग हो गये। एप्पल ने जिन देशों में कारोबार किया है, वहाँ तरह-तरह की रणनीति अपनाकर केवल 2-3 प्रतिशत टैक्स चुकाया जबकि आयरलैंड में उसने कोई टैक्स जमा ही नहीं किया है। दूसरी तरफ, एप्पल के लिए 12 से 14 घंटे बुरी हालत में काम करने के बावजूद मजदूरों को न्यूनतम वेतन से भी कम मजदूरी दी गयी। 2010-11 में एक आई पैड की कीमत 499 डॉलर थी जबकि फैक्ट्री लागत 275 डॉलर। इस 275 डॉलर में से उत्पादन में लगे लोगों को बमुश्किल 33 डॉलर मिला। 150 डॉलर डिजाइन, मार्केटिंग और प्रबन्धन में लगे लोगों की तनख्वाहों पर खर्च हुए, बाकी ठेकेदारों का कमीशन और अन्य खर्चों में। अब मान लीजिए यही आई पैड अमरीका में तैयार होता तो उत्पादन में खर्च 33 डॉलर नहीं 442 डॉलर आता। अगर हम थोड़ा और गहराई में जायें और कहें कि आई पैड के अन्दर के छोटे-छोटे पुर्जे भी अमरीका में ही बनाये जाते तो इनकी कीमत 210 डॉलर प्रति आई पैड होती जबकि दक्षिणी देशों और एशिया में ये पुर्जे महज 35 डॉलर प्रति आई पैड में बनते हैं। यही वह मुनाफा है जो इन दैत्याकार कम्पनियों को हमारे जैसे देशों में आने को ललचा रहा है।

कितना हास्यास्पद है कि भारत और तीसरी दुनिया के तमाम अन्य देश जो साम्राज्यवादी लूट-खसोट के चलते आर्थिक रूप से पिछड़ गये थे, आज उन्हीं साम्राज्यवादियों के साथ साँठ-गाँठ करके अपनी आर्थिक समृद्धि तलाश रहे हैं। उनके साथ सम्बन्धों और गठजोड़ों को इस कदर जरूरी बताया जा रहा है, जैसे कोलम्बस ने अमरीका की खोज न की होती तो आज भारत के सामने विकास का रास्ता ही न होता। करोड़ों मेहनतकश नौजवान, पर्याप्त खनिज संसाधन, उपजाऊ जमीन, मौसम में विविधता और खनिज संसाधनों से परिपूर्ण देश अपनी आर्थिक सम्पन्नता और बुनियादी समस्याओं का हल विश्व बैंक और विदेशी निवेशकों में ढूँढ रहा है। यह भारतीय शासक वर्ग की नीतियों की नाकामी ही है कि उसने पूँजीपति वर्ग के संकीर्ण स्वार्थों को ध्यान में रखते हुए जनहित में कोई

दीर्घकालिक योजनाएँ नहीं बनायी और अब तो पूरी तरह देशी-विदेशी पूँजी का चाकर बना हुआ है।

हमारे देश के शासक वर्ग ने बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार की हैं। मौजूदा सरकार श्रम कानूनों मे फेरबदल करके रही-सही कमी पूरी करने में लगी है। एक बहुराष्ट्रीय निगम को और क्या चाहिए? बेरोजगारों की भीड़, खेती को घाटे का सौदा माननेवाले हताश-निराश किसान, लचर श्रम कानून और पूँजी की रक्षा करनेवाले शासक।

हमारा दुर्भाग्य! इन सहिष्णु और देशभक्त शासकों ने भारत में सारी अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार कर दी हैं। बहुराष्ट्रीय निगम के रूप में दुनिया-भर की अर्थव्यवस्थाओं का विध्वंश करनेवाले इस बिना नाथ-पगहा के जानवर को मेहनतकश जनता का सामूहिक प्रयास ही काबू में ला सकता है। जिसे देर-सवेर होना ही है।

-राजेश चौधरी

रिलायंस ने ओएनजीसी के कुएँ से हजारों करोड़ की गैस चुरायी, तो क्या हुआ?

ओएनजीसी ने 15 मई 2014 को दिल्ली उच्च न्यायलय में रिलायंस इण्डस्ट्रीज लिमिटेड पर अपने ब्लॉक से 30 हजार करोड़ रुपये की गैस चोरी का मुकदमा दर्ज कराया था।

पेट्रोलियम मंत्रालय के तहत आने वाले डायरेक्टोरेट जनरल ऑफ हाइड्रोकार्बन्स (डीजीएच) ने इस आरोप की जाँच का ठेका दुनिया की जानीमानी सलाहकार कम्पनी डिगॉलियर एण्ड मैकनॉटन (डीएण्डएम) को दिया था। उसने इसी महीने, 1 दिसम्बर को अपनी रिपोर्ट सौंपी। रिपोर्ट के मुताबिक ओएनजीसी के कृष्णा-गोदावरी (केजी बेसिन) में स्थित गैस ब्लॉक से 11.12 अरब घन मीटर गैस रिसकर रिलायंस इण्डस्ट्रीज लिमिटेड (आरआईएल) के ब्लॉक में चली गयी। इसकी कीमत आज के बाजार भाव के हिसाब से 11,055 करोड़ रुपये बैठती है।

रिलायन्स और ओएनजीसी के बीच विवाद पर अपनी रिपोर्ट में डीएण्डएम ने इस मामले को सुलझाने के बजाय और ज्यादा उलझा दिया। इस रिपोर्ट के आधार पर रिलायंस के ऊपर 30,000 करोड़ रुपये की गैस चोरी का आरोप लगानेवाली ओएनजीसी और चोरी के आरोप को पूरी तरह नकारनेवाली रिलायंस में से कौन सही है और कौन गलत, यह तय कर पाना कठिन है। डीएण्डएम ने अपनी रिपोर्ट में यह भी कहा है कि अब ओएनजीसी का अपने ब्लॉकों से गैस निकालना व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि इन ब्लॉकों से आज तक गैस निकालने का काम नहीं हुआ। इससे बेहतर यही है कि इन ब्लॉकों में बची गैस को रिलायंस से ही निकलवा लिया जाय जो इस काम में माहिर है। (यह चोर को सरदारी सौंपने जैसी बात नहीं हो गयी!)

सरकार ने केजी बेसिन में गैस निकालने के लिए निजी क्षेत्र की रिलायंस इण्डस्ट्रीज और सरकारी क्षेत्र की कम्पनी तेल एवं प्राकृतिक गैस निगम (ओएनजीसी) को ब्लॉक आवंटित किये थे। आरआईएल के प्रधान मुकेश अम्बानी का पिछली सभी सरकारों पर कितना प्रबल प्रभाव था, यह बात जगजाहिर है। यह बात मीडिया की सुर्खियों में आती रही है कि जब मनमोहन सिंह प्रधानमंत्री थे तो उस दौरान मुकेश अम्बानी की मर्जी से पेट्रोलियम मंत्री हटाये और बहाल किये जाते थे। जाहिर है कि पेट्रोलियम और गैस के क्षेत्र में रिलायंस का इजारा काफी पुराना है।

रिलायंस और ओएनजीसी के बीच गैस चोरी को लेकर विवाद की थोड़ी-थोड़ी भनक तो 2013 में ही मिलने लगी थी, जो 15 मई, 2014 को सतह पर आ गयी। यह खुलासा एक महत्त्वपूर्ण दिन और तारीख को हुआ क्योंकि तब 2014 का लोकसभा चुनाव पूरा हो गया था और अगले दिन 16 मई को उसका परिणाम आनेवाला था।

बहरहाल, ओएनजीसी ने 15 मई, 2014 को दिल्ली उच्च न्यायालय में एक मुकदमा दायर किया जिसमें यह आरोप लगाया कि रिलायंस इंडस्ट्रीज ने उसके गैस ब्लॉक से हजारों करोड़ रुपये की गैस चोरी की है। ओएनजीसी का कहना था कि आरआईएल ने जानबूझकर दोनों ब्लॉकों की सीमा के बिलकुल करीब से गैस निकाली, जिसके चलते ओएनजीसी के ब्लॉक की गैस आरआईएल के ब्लॉक में आ गयी।

ओएनजीसी ने मुकदमा दायर करने के लिए यह तारीख शायद इसीलिए तय की थी कि तब सरकार पर किसी भी पार्टी की पकड़ मजबूत नहीं थी और इसके चलते उस पर राजनीतिक दबाव बनाये जाने की सम्भावना काम थी। ओएनजीसी ने आरआईएल पर अपने जिस ब्लॉक से गैस चुराने का आरोप लगाया वह मुकेश अम्बानी की कम्पनी के कृष्णा गोदावरी बेसिन स्थित केजी-डी6 ब्लॉक से सटा हुआ है। ओएनजीसी के चेयरमैन डी. के. सर्राफ ने 20 मई को अपने बयान में कहा कि ओएनजीसी ने रिलायंस इंडस्ट्रीज के खिलाफ

जो मुकदमा दायर किया है, उसका मकसद अपने व्यावसायिक हितों की सुरक्षा करना है। क्योंकि रिलायंस की चोरी के चलते उसे लगभग 30,000 करोड़ रुपये का नुकसान हुआ है।

16 मई को राजनीतिक हवा का रुख बदलते ही, रिलायंस का पलड़ा भारी हो गया। मुकदमा दायर किये जाने के हफ्ते भर बाद, यानी 23 मई, 2014 को एक बयान में रिलायंस इंडस्ट्रीज ने कहा कि 'हम जी4 और केजी-डीडब्ल्यूएन-98-2 ब्लॉक से कथित तौर पर गैस की 'चोरी' के दावे का खण्डन करते हैं। सम्भवतः यह इस वजह से हुआ कि ओएनजीसी के ही कुछ तत्त्वों ने नये चेयरमैन और प्रबन्ध निदेशक सर्राफ को गुमराह किया जिससे वे इन ब्लॉकों का विकास न कर पाने की अपनी विफलता को छुपा सकें।' हालाँकि, रिलायंस इंडस्ट्रीज ने अपने बयान में यह नहीं बताया कि सर्राफ को गलत जानकारी देने वाले कौन थे।

23 मई को रिलायंस, ओएनजीसी और पेट्रोलियम मंत्रालय के अधिकारियों की एक बैठक हुई और सबने मिलकर इस मामले के अध्ययन के लिए एक समिति बनाने का निर्णय लिया। मजेदार बात यह कि 15 मई को दायर किये गये मुकदमे में ओएनजीसी ने रिलायंस पर तो चोरी का आरोप लगाया ही था, उसने सरकार को भी आड़े हाथों लिया था। ओएनजीसी का कहना था कि डीजीएच और पेट्रोलियम मंत्रालय द्वारा निगरानी नहीं किये जाने के कारण ही रिलायंस ने यह चोरी की। बिडम्बना यह कि ओएनजीसी ने जिन दो पक्षों पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से चोरी का इल्जाम लगाया, उन्हें ही उस विवाद का निबटारा करने के लिए बनी समिति में शामिल कर लिया गया, यानी वादी-प्रतिवादी मिल-बैठकर आपस में सुलट लें, जैसा गाँव के झगड़ों में हम आये दिन देखते हैं। उस समिति ने मामले की जाँच के लिए जिस विदेशी कम्पनी को ठेका दिया, उसने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि ओएनजीसी के ब्लॉक से आरआईएल के ब्लॉक में सिर्फ 11,000 करोड़ रुपये की गैस गयी है। दूसरे, उसने यह सलाह भी दे डाली कि इन ब्लॉकों में बची गैस को रिलायंस से ही निकलवा लिया जाय जो इस काम को करने में माहिर है। इस मामले का निबटारा कैसे होना है, इसका अनुमान लगाने के लिए रिपोर्ट के ये मजमून काफी हैं।

मोदी की नयी सरकार ही नहीं, मनमोहन सरकार के पेट्रोलियम मंत्री वीरप्पा मोइली भी रिलायंस पर मुकदमे के चलते ओएनजीसी से खफा थे। मोदी सरकार बनने से ठीक चार दिन पहले 22 मई 2014 को, जब उनके भाग्य का फैसला हो चुका था और उनका जाना तय हो गया था, मोइली ने पेट्रोलियम सचिव सौरभ चन्द्रा को लिखे एक पत्र में अपने मनोभावों का इजहार किया, "यह एक बेहद गम्भीर मामला है जिसमें एक सरकारी कम्पनी अपने सबसे बड़े हिस्सेदार यानी भारत सरकार और अपने नियंत्रक यानी डीजीएच के खिलाफ अदालत चली गयी है।" मोइली ने अपने पत्र में इस बात की जाँच पर बल दिया कि क्या ओएनजीसी ऐसे किसी मामले को अदालत में ले जाने के लिए स्वतंत्र है। इसके अलावा उन्होंने उन अधिकारियों पर कार्रवाई की बात भी की जिनकी कथित लापरवाही की वजह से यह मामला इस स्तर तक पहुँच गया।

सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी ओएनजीसी से कहीं ज्यादा निजी क्षेत्र की कम्पनी रिलायंस की चिन्ता "इस" सरकार को तो है ही, "उस" सरकार को भी कम नहीं थी। जाहिर है कि सरकार चाहे किसी भी पार्टी या गठबन्धन की हो, उनके असली मालिक, सरमायादारों के मुनाफे पर कोई आँच नहीं आनेवाली। चाहे वह मुनाफा चोरी से कमाया गया हो, या सीना जोरी से। इसे ही कुछ अर्थशास्त्री याराना पूँजीवाद कहते हैं। वैसे इसे मौसेरे भाई पूँजीवाद कहना भी गलत नहीं।

सातवाँ वेतन आयोग किसके लिए?

वित्तमंत्री ने केन्द्रीय उच्च-अधिकारियों और कर्मचारियों के वेतन बढ़ाने की सिफारिश की है। 2016 के जनवरी माह में सातवें वेतन आयोग की सिफारिशें लागू होनेवाली हैं। उन्होंने शुद्ध वेतन का 15 प्रतिशत वेतन बढ़ाने पर जोर दिया है जिससे न्यूनतम प्रतिमाह वेतन 18,000 रुपये और अधिकतम 2,50,000 रुपये तक हो जायेगा, इससे केन्द्र सरकार की जेब से 1,00,000 करोड़ रुपये निकलेंगे। छठे वेतन आयोग की सिफारिश 2006 में लागू हुई थी।

पिछली कांग्रेस सरकार ने गरीबों का मजाक उड़ाते हुए गरीबी रेखा का पैमाना घोषित किया था जिसमें शहरी और ग्रामीण क्षेत्र में क्रमशः 32 रुपये और 28 रुपये प्रतिदिन कमानेवाले को गरीबी रेखा से ऊपर माना था जिसपर मौजूदा भाजपा सरकार ने कोई बदलाव नहीं किया है। उनका मतलब था कि महीनें का वेतन 32 रुपये प्रतिदिन के हिसाब से 30 दिन का 960 रुपये बैठता है, इतने वेतन में कोई भी व्यक्ति अच्छा खाना, कपड़ा, अच्छी शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा और सर छुपाने के लिए छत भी पा सकता है। बाकि जरूरतों को भी पूरा कर सकता है। क्या वास्तव में ऐसा सम्भव है? कॉलेजों की बढ़ती फीस, जमीनों के बढ़ते दाम, आसमान छूती महँगाई और बढ़ती बेरोजगारी के चलते ऐसा नहीं हो सकता कि अपनी सभी जरूरतों को पूरा किया जा सके। जिन लोगों की आमदनी 960 रुपये प्रति माह के आस-पास है, उनको मिलने वाली सभी सरकारी सहायता खत्म की जा रही है जबकि सरकारी अफसरों का वेतन बढ़ाया जा रहा है जिनका वेतन पहले ही 960 रुपये प्रतिमाह से कई गुना ज्यादा है।

बढ़ती महँगाई को देखते हुए छोटे कर्मचारियों का वेतन बढ़ाना बेहद जरूरी है, लेकिन वरिष्ठ अधिकारियों के वेतन को क्यों बढ़ाया जा रहा है जबकि उनका वेतन अपनी मूलभूत जरूरतों को पूरा करने के लिए भरपूर है। बड़े-बड़े अर्थशास्त्री सातवें वेतन आयोग के पक्ष में तर्क दे रहे हैं कि इससे उपभोग बढ़ेगा, बाजार की रफ्तार में उभार आयेगा। सातवें वेतन आयोग से मुख्य रूप से फायदा उनका होगा जिनके पास पहले ही अतिरिक्त बचत है। वे लोग कार, जमीन, फ्लैट, आदि खरीदने के लिए कम्पनियों के पास जायेंगे और जब कम्पनियाँ इन्हें अपने माल बेचेंगी, तो वाहन, उपभोक्ता सामान और रियल इस्टेट कम्पनियों को सबसे ज्यादा फायदा होगा। ऐसा ही छठे वेतन आयोग के बाद भी हुआ था। वर्ष 2008 में मारुति कार की बिक्री वृद्धि दर 4 फीसदी थी और वर्ष 2011 में 14 फीसदी हो गयी थी। अर्थशास्त्रियों के ऐसे तर्क उच्च वर्ग के पक्ष में किया गया प्रचार हैं। क्या किसानों की फसलों का समय से भुगतान करने, बेरोजगारी से परेशान नौजवानों को रोजगार देने और मजदूरों की आमदनी बढ़ाने से लोगों की क्रयशक्ति नहीं बढ़ेगी? क्या इससे अधिक माँग पैदा नहीं होगी और बाजार का ठहराव नहीं टूटेगा?

सवाल क्रयशक्ति बढ़ाने का है ही नहीं। असली सवाल पक्षधरता का है। सरकारी मशीनरी में शामिल उच्च अधिकारी सत्ता के हाथ-पैर हैं। सरकार उन्हें और मजबूती से अपने पक्ष में करने के लिए उनके वेतन में वृद्धि कर रही है। इस तरह जो लोग पहले से चाँदी के चम्मच से खा रहे थे, अब सोने और हीरे की प्लेटों में खायेंगे। सरकार सातवें वेतन आयोग के लिए आम सहमति बनाने के उद्देश्य से सरकारी कर्मचारियों के वेतन में भी वृद्धि कर रही है। लेकिन अधिकारियों की तुलना में यह वृद्धि बहुत मामूली है। इसके अलावा सरकारी परियोजनाओं में ज्यादातर कर्मचारी ठेके पर रखे जाते हैं। जिनके लिए सातवें वेतन आयोग का कोई मतलब नहीं है। दूसरी तरफ ट्रेड यूनियनों ने सातवें वेतन आयोग की रिपोर्ट का विरोध किया है। यूनियनों का कहना है कि प्रस्तावित वेतनवृद्धि पिछले कई दशक में सबसे कम है और यह महँगाई को देखते हुए पर्याप्त नहीं है। मजदूरों के काम के घण्टों को बढ़ाया जा रहा है और उन्हें सिर्फ जिन्दा रहने भर के लिए न्यूनतम वेतन दिया जाता है। मजदूर अपनी जरूरतों के लिए माँग न कर सकें इसके लिए यूनियन बनाने में बाधा डालने के लिए काले कानूनों को पारित किया जा चुका है। 100 मजदूरों को कोई भी कम्पनी एक साथ बिना किसी नोटिस के बाहर का रास्ता दिखा सकती है। पहले से ही श्रम सुधारों के जरिये मजदूरों के अधिकारों में कटौती की जा चुकी है। सातवाँ वेतन आयोग किन लोगों को मजबूत करने के लिए लाया जा रहा है? यह समझना मुश्किल नहीं है।

अगर बड़े-बड़े अधिकारियों के वेतन न बढ़ाकर उनकी जगह कुछ नयी भर्तियाँ निकाली जाती तो बेरोजगारी का दंश झेल रहे नौजवानों में से कुछ को जीवन चलाने के लिए नौकरी मिल जाती और वे भी आत्मसम्मान की जिन्दगी जी सकते थे। स्कूल और कॉलेज की फीसें कम कर दी जाती तो गरीब छात्र भी शिक्षा ले सकते थे। कुछ सरकारी अस्पतालों को खुलवा दिया जाता तो इलाज करवाने में असमर्थ लोग अपना इलाज करा सकते थे।

-ललित

भारतीय अर्थव्यवस्था ठहराव की शिकार

रिजर्व बैंक के गवर्नर रघुराम राजन ने हाल ही में कहा कि भारत के ज्यादातर कारखाने अपनी क्षमता का 70 फीसदी ही उत्पादन कर पा रहे हैं, जबकि 2011-12 में वे अपनी क्षमता का 80 फीसदी उत्पादन कर रहे थे। रघुराम राजन का यह वक्तव्य विनिर्माण क्षेत्र की वर्तमान स्थिति की और इशारा करता है। एक अन्य रिपोर्ट के मुताबिक विनिर्माण क्षेत्र में विकास दर पिछले 22 महीनों के सबसे निचले स्तर पर है। क्रेडिट स्विस ने 12 अक्टूबर को अपनी रिपोर्ट में कहा है कि संरचनागत ढाँचे से लेकर खनन क्षेत्र तक की दस बड़ी कम्पनियों का समूहिक कर्ज उनके अनुमानित मुनाफे से 6 गुना ज्यादा हो गया है। अन्य उद्योगो की भी यही स्थिति नजर आ रही है। पिछले दिनों सरकारी बैंको का बुढंत खाता कर्ज 27 फीसदी तक बढ़ा है, बुढंत खाता कर्ज वह होता है जिसके डूबने की सम्भावना होती है। पिछले 12 महीनों में बैंको के 3.36 करोड़ रुपये गैर-निष्पादित परिसम्पत्तियों के चलते डूब गये। कमोबेश इसी तरह की तस्वीर अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में भी देखने को मिल रही है। इन सभी तथ्यों को वर्तमान वैश्विक मन्दी के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। 2008 में अमरीका में आयी आर्थिक मन्दी ने पूरी दुनिया के सामने कई प्रश्न छोड़े थे, उन्हें हल करने की जगह पूँजीपतियों में मुनाफे की हवस पहले से भी ज्यादा बढ़ी और आज वे अपनी बनायी दुनिया में फँसते नजर आ रहे हैं।

बर्बाद होते लघु उद्योग

वैश्विक मन्दी और गिरती अर्थव्यवस्था का सबसे बुरा प्रभाव लघु उद्योगों पर पड़ा है, जिसमें चमड़ा उद्योग, पावरलूम, खादी उद्योग इत्यादी आज बन्द होने के कगार पर हैं। मेरठ स्थित गाँधी आश्रम का खादी कारखाना कुछ यही तस्वीर पेश करता है, कभी पूरे इलाके में आकर्षण का केन्द्र रहा यह कारखाना आज खण्डहर मालूम पड़ता है। वहाँ रंगाई विभाग में कार्यरत सतीश चन्द्र (50 वर्षीय) बताते हैं कि पिछले वर्षो में माँग बहुत कम हुई है, जिससे पूरे उत्तर भारत में खादी से जुड़े बहुत से कारखाने बन्द होने की कगार पर हैं। आमदनी की बात करने पर वह बताते हैं कि एक चादर को रंगने पर 7-8 रुपये तक मिलते हैं। महीने में 150 चादर तक रंगने पर मुश्किल से 2000 तक की आमदनी हो पाती

है जो न्यूनतम मजदूरी से भी बहुत कम है, इसके चलते कभी 100 से ऊपर कर्मचारियों वाले रंगाई विभाग में आज केवल एक ही बचा है। कारखाने में मौजूद प्लेन्डर मशीन, जो कभी कपड़ों को चिकना करने के काम आती थी, आज धूल गर्द में दबी है। उन्होंने आगे बताया की पहले गाँधी ग्राम उद्योग के अन्तर्गत आने से खादी की माँग इन्हीं कारखानों द्वारा पूरी की जाती थी जिससे हजारों लोगों को रोजगार मिलता था परन्तु आज यह काम मिलों में होने लगा है, जहाँ कुछ ही लोगों से कई सौ लोगों का काम करवा लिया जाता है। हालाँकि वैश्विक मन्दी के चलते उन मिलों की हालत भी बहुत खराब है।

यही स्थिति चमड़ा उद्योगों की है, मेरठ स्थित शोभापुर गाँव के एक चमड़ा व्यापारी ने बताया कि पिछले वर्षों में इन उद्योगों में 20-25 फीसदी तक की गिरावट आयी है, जिससे बहुत से मजदूरों को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा है। चमड़ा उद्योग में लगे मजदूरों को बहुत बुरी परिस्थितयों में काम करना पड़ता है, एक सामान्य व्यक्ति के लिए यहाँ काम करना नरक में जीना है। एक मजदूर ने बताया कि दिन में 14-16 घंटे काम करने के बाद मुश्किल से महीने-भर में दस हजार तक की कमाई हो पाती है। पिछले दिनों आयी वैश्विक माँग में कमी से केवल मवाना क्षेत्र के ही दो गाँवों, सटला और बैजाद में लगे चमड़ा कारखाने बन्द हो गये, जिससे उनमें लगे मजदूर आज भुखमरी की स्थिति में हैं। दो सालों के अन्तराल में ही मेरठ क्षेत्र के लगभग 5,000 मजदूर मन्दी के चलते अपना रोजगार गवाँ चुके हैं। यह जमीनी हकीकत देश की आर्थिक प्रगति की धुँधली तस्वीर पेश करती है। श्रम सांख्यिकी ब्यूरो इसी बात को पुष्ट करते हुए बताता है कि इस वर्ष चमड़ा उद्योगों, रत्न और आभूषण आदि क्षेत्रों में 16,000 रोजगार कम हुए हैं। जाहिर है कि मुट्ठीभर पूँजीपतियों की हवस का शिकार हजारों मेहनतकशों को होना पड़ रहा है।

चीन और यूनान संकट का प्रभाव

आज पूरे विश्व की अर्थव्यवस्था एक-दूसरे से जुड़ी हुई है। एक जगह संकट आने का मतलब है हर जगह उसका प्रभाव पड़ना। 2008 की मन्दी के दौरान लेहमन ब्रदर बैंक के डूबने का प्रभाव पूरी दुनिया पर पड़ा था। इसके चलते आईसीआईसीआई बैंक को भारत में लगभग 150 करोड़ का नुकसान हुआ था। स्टेट बैंक ऑफ इंडिया और पंजाब नेशनल बैंक का 50-50 लाख डॉलर निवेश के कारण डूब गया था। लेहमन ब्रदर बैंक की भारतीय शाखा में काम कर रहे 2500 कर्मचारियों को अपनी नौकरियों से हाथ धोना पड़ा था। भारत में रोजगार पर इसका बहुत बुरा असर पड़ा था। संकटों से सबक लेने की जगह फौरी हल तलाशने के कारण ही आज स्थिति पहले से भी अधिक गम्भीर दिखती है। आज संकट की उसी कड़ी में चीन और यूनान आगे जुड़ते लग रहे हैं। इन देशों पर आये संकटों ने दुनिया को एक बार फिर ठहराव की स्थिति में ला दिया है।

यूनान का संकट वहाँ की सरकार के बॉण्ड में अनाप-सनाप निवेश से उत्पन्न हुआ। आज वित्तीय पूँजी की अर्थव्यवस्था में बॉण्ड ही सबसे मुख्य कारक है जो तय करता है कि कौन-कौन कम्पनियाँ और अर्थव्यवस्थाएँ मजबूत होंगी और कौन-कौन ध्वस्त होंगी। बॉण्ड ऐसा कर्ज पत्र है जिसको सरकार पैसे उधार लेने के लिए जारी करती है। यह तय रहता है कि इस पैसे को कब लौटाना है और किस दर से सूद अदा करना है। इन बॉण्ड की अनगिनत बार खरीद-बिक्री हो सकती है। इसके लिए बैंकों ने तरह-तरह की वित्तीय व्युत्पत्तियाँ ईजाद की हैं। यूनान सरकार द्वारा 10 नवम्बर 2009 को 10.5 अरब डॉलर के कर्ज के लिए जारी किये गये बॉण्ड का मूल्य 2012 तक करीब आधा रह गया था। जब यूनान सरकार यूरोपीय यूनियन और आईएमएफ से दूसरी बार राहत कोष की माँग कर रही थी तब तक इस बॉण्ड के धारक अपने निवेश का पूरा मूल्य गवाँ चुके थे, और अब इस दूसरे राहत कोष ने यूनानी नागरिकों के अरबों यूरो उन विदेशियों के हवाले कर दिये, जो सट्टेबाजी में वहाँ के बॉण्ड पर अनाप-सनाप दाँव लगा रहे थे, जिसके परिणामस्वरूप आज यूनान के हर नागरिक पर 31,000 यूरो तक का विदेशी कर्ज चढ़ चुका है। यूनान संकट के कारण यूरोप के बाजारों में ब्याज दर बढ़ने और भारत से तेजी से पूँजी बाहर जाने की आशंका खड़ी हो गयी है। इससे भारत की निर्यात माँग में भी कमी आयी है और विदेशी मुद्रा भण्डार पर प्रतिकूल असर पड़ा है। इसका सबसे बुरा प्रभाव भारत के हजारों कारीगरों पर पड़ेगा जो निर्यात किये जानेवाले मालों के उत्पादन में लगे हुए है।

इसी कड़ी को चीन आगे बढ़ा रहा है। लेहमन ब्रदर के डूबने के बाद चीन वैश्विक अर्थव्यस्था में लगभग एक तिहाई योगदान करता रहा और उसने 2008 की मन्दी के बाद अमरीका और यूरोप में मौजूद सुस्ती के असर को काफी हद तक कम किया था। परन्तु वैश्विक माँग के कम होने और तेल की कीमतों में भारी गिरावट के चलते आज चीन खुद संकट का शिकार होता नजर आ रहा है। चीन के सामने 15 साल में पहली बार पूरे सालभर के लिए अपनी वृद्धि के निर्धारित लक्ष्य को हासिल न कर पाने का संकट पैदा हो गया है। यह संकट अमरीकी संकट से भी खतरनाक असर छोड़ सकता है। चीन में माँग की कमी से टाटा स्टील, जेएसडब्ल्यू, स्टरलाइट जैसी भारतीय धातु कम्पनियों पर खासा असर पड़ेगा। इसी वैश्विक माँग की कमी के चलते भारत का आईटी निर्यात भी कम हो सकता है, ज्ञात रहे कि पिछले वित्त वर्ष के दौरान आईटी उद्योगों की शुद्ध विदेशी मुद्रा आय ने मालों के व्यापार में हुए कुल घाटे के आधे भाग (48 फीसदी) की भरपाई कर दी थी, अगर ये उद्योग सुस्ती का शिकार होते हैं तो भारत के लिए व्यापार घाटे से उबर पाना बहुत मुश्किल हो जायेगा।

क्या कोई रास्ता नहीं है?

आज दुनिया-भर की अर्थव्यवस्थाएँ कुछ मुट्ठी-भर इजारेदार कम्पनियों के हाथों में हैं। बाजार विस्तार की सम्भावना न होने और अर्थव्यवस्था के सटोरिया पूँजी की गिरफ्त में होने के कारण विश्व अर्थव्यवस्था लगातार मन्दी की शिकार हो रही है। चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था एक तरफ मजदूरों का शोषण करके उनकी क्रयशक्ति घटाती जाती है, दूसरी तरफ मुनाफे की हवस में पूँजीपति उत्पादन बढ़ाते जाते हैं जिससे आपूर्ति तेजी से बढ़ती जाती है और पूँजीपति का माल बिकना बन्द हो जाता है, जिससे अर्थव्यवस्था मन्दी में फंस जाती है। पूँजीपति हमेशा मन्दी दूर करने के दो उपायों को अमल में लाते हैं, एक तो माल खपत को दुरुस्त करने के लिए एक छोटी आबादी को सम्पन्न बनाना जिससे वह बाजार का हिस्सा बन सके, इसके लिए कुछ लोगों को मोटी तनख्वाहें दी जाती है या फिर सरकार द्वारा खरीद नीतियाँ लागू करके किया जाता है, वेतन आयोग को हम इसी रूप में देख सकते हैं। दूसरे उपाय में वे करोड़ों मेहनतकशों पर अपना संकट थोप देते हैं, अमरीकी मन्दी के दौरान लगभग लगभग 50,000 हजार कर्मचारियों को अपनी नौकरी गँवानी पड़ी थी। आज इस मार को किसान और मजदूर सबसे अधिक सह रहे हैं। अर्थव्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए समान वितरण प्रणाली अपनाना एक कारगर उपाय है। जिससे विश्व में व्याप्त अमीर-गरीब की खाई कम होती है और उत्पादन जरूरत के अनुसार होता है। आज हर जगह मेहनतकशों के विद्रोह के स्वर सुनाई दे रहे हैं। मुनाफाखोरी की जगह समता और सामाजिक न्याय पर आधारित व्यवस्था की स्थापना करके ही इस वैश्विक संकट का स्थायी समाधान सम्भव है।

--मोहित पुण्डीर

स्कूली शिक्षा में जातिवाद

देश के प्राथमिक विद्यालयों में आज जातिगत भेदभाव किस कदर हावी हैं यह अकसर खबरों मे आता रहता है। दलितों को सामाजिक अपमान ही नहीं शिक्षा से वंचित होने का दंश भी झेलना पडता हैं। एक खबर के मुताबिक ओडिसा के केन्द्रपाड़ा जिले में अन्द्रा गाँव के वन्देमातरम सरकारी स्कूल में दलित छात्रों को गणेश पूजा में शामिल होने से रोक दिया गया। अध्यापकों ने छात्रों को दोपहर के 3 बजे तक स्कूल के एक कमरे में बन्द करके ताला लगा दिया, ताकी वे पूजा की किसी साम्रगी को छूकर अपवित्र न कर दें। कक्षा 9 की दलित छात्रा सन्तोष मलिक ने अध्यापकों के सामने हाथ जोड़े, पैर पकड़े, घर जाने की मिन्नतें की लेकिन अध्यापकों ने उसकी एक न सुनी। उलटा डाँटते हुए कहा कि तुम्हारी जात के लोगों का तो धर्म ही है हमारे पैर पकड़ना और सन्तोष को भी दूसरे बच्चों के साथ कमरे मे बन्द कर दिया। एक दलित छात्र किसी तरह दीवार फाँदकर घर पहुँचा और परिजनों को स्कूल लेकर आया जिन्होंने अपने बच्चों को मुक्त कराया।

दलितों ने अपमान के घूँट पीने बजाय विरोध का रास्ता चुना। उन्होंने पट्टा मुण्डा थाने में जाकर स्कूल के प्रधानाध्यापक समेत पाँच अध्यापकों के खिलाफ रिपोर्ट दर्ज करायी।

रिपोर्ट का पता लगते की गाँव के सवर्णों ने दलितों को सबक सिखाने के लिए एक पंचायत बुलायी। इस पंचायत में दलितों के बहिष्कार का फैसला लिया गया। दलितों की आबादी गाँव में एक तिहाई है। स्वर्णों ने दलितों को अपने खेतों में घुसने से रोक दिया। उनसे मजदूरी कराना, उनकी दुकानों से सौदा और सब्जी तक खरीदना बन्द कर दिया है।

गाँव के ही नरेन्द्र मलिक कहते हैं कि हमारा परिवार 60 सालों से गाँव में है। मैंने सवर्णों से 3.5 एकड़ जमीन बटाई पर ली है जिसमें काले चने बोने के लिए मैं 5000 रुपये खर्च कर चुका हूँ। आज वे हमें खेतों में घुसने नहीं देते। पिछले साल फसल को मानसून निगल गया था। अब इस घटना ने हमारे परिवार को तबाही की कगार पर ला दिया। हम कहाँ जायें, क्या करें? हमारे परिवार का भगवान ही मालिक है।

गाँव मे इतनी बड़ी घटना होने पर जब गाँव के सरपंच उपेन्द्र से इस बारे में पूछा गया तो उसने कहा कि हम अपने खेतों में इनको क्यों घुसने दें। हम इनसे अपनी फसलें क्यों कटवायें, जमीन हमारी हैं। हम जमीन के मालिक हैं। हम इनको खेतों में घुसने नहीं देंगे। गाँव के स्कूल में इतनी लोमहर्षक घटना के बारे में जब डी. एम. सोनापती से पूछा गया तो उनका जवाब था कि हमारे पास ऐसी कोई रिपोर्ट नहीं आयी है। जब आयेगी, तब देखा जायेगा।

एक अन्य घटना में कर्नाटक के कोलार जिले के कागन हल्ली गाँव के स्कूल में दलित महिला द्वारा दोपहर का भोजन बनाने पर सवर्णों ने स्कूल से अपने 100 बच्चों का नाम कटा लिया। बाकी के 18 बच्चों पर भी नाम कटाने का दबाव बनाया जा रहा है। खाना बनानेवाली दलित महिला राघम्मा का कहना है कि मैं पिछले पाँच महीनों से डायरी में लिखती हूँ कि ''आज किसी ने खाना नहीं खाया।'' स्कूल के प्रधानाध्यापक का कहना है कि- ''इसके पीछे गाँव की राजनीति है। अगर मैं लोगों से बच्चों के नाम न कटवाने के लिए कहता हूँ तो वे मुझे गालियाँ देते हैं''। राघम्मा को स्कूल से 1700 रुपये महीना मिलते हैं और उनका 7 लोगों का परिवार है। अगर वह स्कूल में खाना बनाना बन्द करती है तो उनका परिवार भूखों मर जायेगा।

गाँव के ही एम. नागभूषण का कहना है कि ''हमारे चार परिवारों को गाँव से बहिष्कृत कर दिया गया है। गाँव का जो आदमी हमारा सहयोग करेगा उस पर भी 501 रुपये का जुर्माना लगेगा।''

ऐसी ही एक घटना गुजरात के एक सरकारी स्कूल की है। पाटन जिले के हाजीपुर गाँव की आँगनबाड़ी में दलित बच्चों की वजह से सवर्णों ने अपने बच्चों के लिए अलग आँगनबाड़ी बनवायी है। ये दोनों आँगनबाड़ी एक ही स्कूल में अलग-अलग कमरों में हैं। लेकिन दलितों के बच्चे सवर्णों की आँगनबाड़ी में नहीं जा सकते हैं। दलित आँगनबाड़ी की चार साल की छात्रा मानवती चमार की माँ पिंकी चमार ने बताया कि एक दिन मेरी बेटी अपनी सहेली सुहानी पटेल से बात करते हुए उनकी आँगनबाड़ी की ओर चली गयी तो उसे दरवाजे से ही भगा दिया गया। घर आकर मेरी बेटी ने पूछा कि माँ मैं दूसरी आँगनबाड़ी में क्यों नहीं जा सकती। मुझे नहीं पता कि मैं उसे क्या जवाब दूँ। सवर्ण आँगनबाड़ी की छात्रा आर्या की माँ वर्षा बेन का कहना है कि ''ब्राह्मणों और पटेलों के बच्चे चमारों के साथ कैसे बैठ सकते हैं। मैं अपनी बेटी का उनके साथ बैठना, खेलना, खाना कैसे स्वीकार कर सकती हूँ''।

अलग-अलग आँगनबाड़ी का मामला 2014 में राज्य बाल अधिकार रक्षा आयोग के सामने गया था। लेकिन उन्होंने आज तक कोई कार्रवाई नहीं की। भारतीय समाज विज्ञान शोध परिषद के पूर्व समाज विज्ञानी घनश्याम शाह का कहना है कि जातीय बँटवारा गुजरात में पहले से मौजूद रहा है, लेकिन प्राइमरी स्कूलों मे ऐसा स्पष्ट भेदभाव बिलकुल नयी चीज है। निचली जातियों के बच्चे सरकारी स्कूलों में घुसेड़ दिये गये हैं। उसी तरह ऊँची जातिवाले निजी स्कूलों को महत्त्व देते हैं। इस तरह आँगनबाड़ी और दोपहर का भोजन के जरिये सभी समुदायों के बच्चों को साथ लाकर सामाजिक ताने-बाने को मजबूत करने की योजना प्रदेश में पूरी तरह असफल रही है।

आजाद देश में दलितों को हर कदम पर अपमान का घूँट पीना पड़ रहा है। हमारे देश की अधिकांश जनता गाँवों में रहती है। दलितों के पास जमीन का मालिकाना नहीं है। आजादी के बाद आधे-अधूरे भूमि सुधार ने एक तरफ तो उच्च जातियों के पास गाय, भैंस, कुत्तें-बिल्ली के नाम पर सीलिंग से अधिक सैकड़ों एकड़ जमीन छोड़ दी। वहीं दलितों को जमीन से वंचित रखा। जमीन पर उच्च जातियों का कब्जा होने के कारण गाँव में सवर्ण जातियों का दबदबा अपने-आप कायम हो जाता है। उच्च जातियाँ जब भी उन्हें खेतों में आने, बटाई पर खेती करने, निराई-गुड़ाई, बँधाई, घास फूँस आदि कामों के लिए दलितों पर बंदिश लगा देते हैं। ऐसे में दलितों के सामने मजबूर होकर उनकी माँग मानने या गाँव छोड़ देने के अलावा कोई विकल्प नहीं रहता है।

दलितों को हीन समझने की दकियानूस सोच को आज की कट्टर हिन्दूवादी ताकतों से लगातार सह मिल रही है। यह दलितों पर अत्याचार को तेजी से बढ़ाने के लिए जिम्मेदार है। कट्टर हिन्दूवाद ने समाज में बढ़ती असमानता के कारण जनता के दिल में भरे गुस्से को हिन्दुत्व वादी एजेण्डे की ओर मोड़ लिया है। वे वर्ण व्यवस्था की पोषक हैं और भारत को अमरीका का अधीनस्थ हिन्दू राष्ट्र बनाने पर आमादा हैं। हिन्दू राष्ट्र का मतलब है, जातियों के शोषण पर टिकी व्यवस्था, जिसमें चमार, लुहार, कुम्हार आदि जातियाँ अलग-अलग पायदान पर, अलग-अलग हैसियत के मुताबिक रहेंगी। अगर कोई चमार स्कूल में गया तो असके कान में पहले की तरह शीशा पिघलाकर भले ही न डाला जाय, लेकिन इसे तमाम तरह के भेदभाव और अपमान का सामना करना पड़ेगा। दलितों को ऊँची जातिवालों के सामने आँख उठाने का भी हक नहीं होगा।

आज के इस साम्राज्यवादी युग ने आर्थिक असमानता को बहुत ज्यादा बढ़ा दिया है। एक तरफ तो कुछ लोग देश के आर्थिक संसाधनों को लूटकर दौलत के अम्बार लगा चुके हैं, दूसरी तरफ 80 फीसदी लोगों का जीवन नरक बन गया है। हमारे देश में साम्राज्यवाद को जातीय, धार्मिक बँटवारे से सहारा मिलता है। यही कारण है कि जब डंकल प्रस्ताव भारत में आया, तभी बाबरी मस्जिद विध्वंश का जिन्न बाहर आया। सरकार के कुछ लोग विदेशों में जनता के हक को बेच रहे हैं और कुछ जनता के बीच दीवार खड़ी करने में लगे हैं।

दलितों के साथ भेदभाव की समस्या भरत की एक बहुत बड़ी समस्या हैं। इतनी बड़ी आबादी को हाशिये पर रखकर हम एक मजबूत और स्वाभिमानी देश की कल्पना भी नहीं कर सकते। आज दलितों के सामने केवल इज्जत ही नहीं, बल्कि अस्तित्त्व का भी संकट आ खड़ा हुआ हैं। साम्प्रदायिकता और साम्राज्यवाद दलितों का हाल अमरीका के काले गुलामों जैसा कर देंगे।

अपने हर शोषित पीड़ित वर्ग और तबके के लिए अपने आपको आधुनिक चेतना से लैस करना और संगठित होकर, संघर्ष करना आज समय की माँग है। एक शोषण विहीन, जाति विहीन, वर्ग विहीन समाज का निर्माण करना सम्भव है जहाँ आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भेदभाव न हो। हम अपने देश को ऐसा बना सकते हैं और हमें बनाना ही होगा।

(यह टिप्पणी इण्डियन एक्सप्रेस में प्रकाशित रिपोर्टों के आधार पर लिखी गयी है, जिसके लिए हम आभार प्रकट करते हैं।)

गद्दरी बाबाओं का सन्देश

छूत छात का कोई खिआल नहीं,
सानू परख ना चूहड़े चमार वाली।
हिन्दुस्तान वाले सारे हैन भाई,
रीत रखनी नहीं मकार वाली।

शिक्षा में विदेशी निवेश

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा आगे शोध छात्रों की छात्रवृति रोके जाने के खिलाफ सैंकड़ो की संख्या में आयोग के सामने एकत्रित हुए छात्रों की भीड़ से जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय कि एक छात्रा दीपिका ने गुस्से में कहा, "मैं यूजीसी के अनुदान पर ही आश्रित हूँ। यदि मेरे अभिभावकों को मेरी पढ़ाई का खर्च उठाने के लिए कहा गया होता तो शायद मैं अपनी पढ़ाई जारी नहीं रख पाती। इस अनुदान को खत्म करके यूजीसी उन छात्रों के लिए सारे दरवाजे बन्द कर रही है जो शिक्षा का खर्च वहन नहीं कर सकते। इसका सीधा मतलब यह है कि यह फैसला गरीबों, हाशिये पर फेंक दिये गये लोगों और यहाँ तक कि उन छात्राओं को प्रभावित करेगा जो अपने अभिभावकों के विरोध के बावजूद किसी प्रकार अपनी पढाई जारी रखती हैं।"

एफटीआईआई आन्दोलन को समाप्त हुए अभी ज्यादा दिन नहीं हुए थे कि विभिन्न विश्वविद्यालयों के छात्र एक बार फिर सड़कों पर हैं। पिछले दिनों विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) ने शोध करनेवाले छात्रों की नॉन-नेट फेलोशिप बन्द कर देने कि घोषणा कर दी। इस फेलोशिप के तहत केन्द्रीय विश्वविद्यालयों से एम.फिल करनेवाले छात्रों को 5,000 और पी.एच.डी. करनेवालों को 8,000 प्रतिमाह की आर्थिक सहायत दी जाती थी। हालाँकि बढ़ती महँगाई, शोध सामग्री, रहने के खर्च, यातायात पर होनेवाले खर्च इत्यादि को ध्यान में रखा जाये तो यह सहायता राशि मामूली ही है फिर भी गरीब परिवारों से आये छात्र इस राशि के सहारे उच्च शिक्षा प्राप्त करने की उम्मीद कर सकते थे। लेकिन यूजीसी के इस सख्त फैसले के बाद उनके लिए उच्च शिक्षा मात्र एक सपना बनकर रह जायेगी।

सरकार और यूजीसी के इसी फैसले का विरोध करने, नॉन-नेट सहायत राशि को न केवल जारी रखने बल्कि उसमें वृद्धि करने, और उच्च शिक्षा के निजीकरण विरोध करने के लिए जेएनयू, जामिया, दिल्ली विश्वविद्यालय समेत देश के कई अन्य विश्वविद्यालयों के छात्र-छात्राएँ लगभग दो महीनों से ओक्योपाई यूजीसी आन्दोलन के बैनर तले सड़कों पर उतरे हुए हैं लेकिन केन्द्र सरकार और मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय के कानो पर जूँ तक नहीं रेंगी है। बल्कि 9 दिसम्बर को अखिल भारतीय संसद मार्च में शामिल हुए लगभग 700 छात्रों पर पुलिस ने बेरहमी से लाठियाँ भाँजी और आँसू गैस के गोले दागे। इसके बाद पुलिस ने तकरीबन 300 प्रदर्शनकारी छात्रों को गिरफ्तार कर लिया इसके पहले भी पुलिस द्वारा आन्दोलन में शामिल छात्राओं से छेड़-छाड़ करने, उनके तौर-तरीकों का मजाक उड़ाने और लाठीचार्ज करने की घटनाएँ लगातार सामने आती रही हैं।

शोधार्थियों के इस विरोध ने भारत में शिक्षा के भविष्य पर सवाल खड़ा कर दिया है। अगर हम आगामी दिनों में शिक्षा में होने वाले सुधारों पर गौर करें तो स्थिति की भयावहता का अन्दाजा लगाया जा सकता है। दरअसल, 15 दिसम्बर 2015 को नैरोबी में विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) की बैठक में भारतीय शिक्षा का भाग्य तय हो जायेगा। यदि सरकार डब्लू टी ओ के सुझावों को स्वीकार कर लेती है तो इसका अर्थ होगा कि भारतीय शिक्षा व्यवस्था मुक्त बाजार में बिकने वाला माल बनकर रह जायेगी। डब्ल्यूटीओ के जेनरल एग्रीमेंट आन ट्रेड इन सर्विसेज (गेट्स), जो सेवा क्षेत्र को अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में बदलने के नियमों का एक दस्तावेज है, में 12 सेवा क्षेत्रों को शामिल किया गया है जिसमे शिक्षा भी एक है। अभी तक 160 देशों में केवल 43 ने ही शिक्षा पर गेट्स की शर्तों को स्वीकार किया है।

अभी तक भारत सरकार अपने नागरिकों को शिक्षा में कुछ रियायतें देती रही है लेकिन यदि डब्ल्यूटीओ-गेट्स के समझौते के तहत शिक्षा पूरी तरह विदेशी निवेश का हिस्सा बन जाती है तो शिक्षा क्षेत्र सरकार के नियंत्रण से बाहर हो जायेगा। परिणामस्वरूप, उच्च शिक्षा में भारी विदेशी निवेश होगा और सरकारी सहायता से चलनेवाले संस्थानों की फंडिंग खत्म हो जायेगी। ऐसी स्थिति में उच्च शिक्षा के लिए या तो भारी भरकम फीस भरनी पड़ेगी या निम्नवर्गीय और मध्यवर्गीय छात्रों के लिए उच्च शिक्षा मात्रा एक सपना बनकर रह जायेगी।

भारत सरकार ने उच्च शिक्षा में डब्ल्यूटीओ-गेट्स के करार पर चुप्पी साध रखी है। मगर जहाँ तक शिक्षा नीति का सवाल है उस पर केन्द्र सरकार कि मंशा इस वर्ष के आम बजट के बाद ही जाहिर हो गयी थी जब वर्तमान सरकार ने उच्च शिक्षा पर होने वाले खर्च में 8 प्रतिशत की कटौती की थी। इसके अलावा भारत में शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का तीन प्रतिशत ही खर्च किया जाता है, जो वैश्विक औसत से काफी कम है।

अन्देशा यह भी लगाया जा रहा है कि गेट्स सरकार पर अपनी एक ऐसी नीति लागू करने का दबाव बनायेगा जिसमें सरकार को बिना किसी भेदभाव के सभी विदेशी संस्थानों को देशी संस्थानों की तर्ज पर सुविधाएँ, जैसे भूमि, सड़क, टैक्स में छूट इत्यादि देनी होंगी। इससे सरकारी संस्थानों की फंडिंग पर गहरा प्रभाव पड़ेगा। डब्लूटीओ-गेट्स के नियमों के अनुसार यदि कोई भी सरकारी संस्थान किसी भी तरह की फीस वसूलता है तो उसे निजी मान लिया जायेगा। जो पूरी तरह अव्यवहारिक है। क्योंकि सरकारी संस्थान अपने रोजमर्रा के खर्चों के लिए छोटी-मोटी फीस वसूलते हैं। यदि सरकार डब्लूटीओ करार करती है तो या तो उसे देशी और विदेशी दोनों संस्थानों को छूट देनी होगी या सरकारी सहायता से अपने

हाथ खींचने होंगे। दोनों ही स्थितियों में विदेशी निवेशकों का फायदा और सरकारी संस्थानों का नुकसान होगा।

सरकारी संस्थान पहले से ही फंड के अभाव से जूझ रहे हैं। ऐसे में यदि एक नया दावेदार आता है तो वे पूरी तरह ध्वस्त हो जायेंगे। वाणिज्य मंत्रालय इन संस्थानों को पहले ही आत्म निर्भर होने की सलाह दे चुका है जिसका सीधा-सीधा अर्थ होगा-- फीस में भारी बढ़ोत्तरी। इसके बाद उच्च शिक्षा महँगी हो जायेगी और अन्तत यह विदेशी निवेशकों के हक में होगा जो पहले भारतीय शिक्षा बाजार में निवेश करने से इसलिए डरते थे कि लोगों के पास सरकारी संस्थानों के रूप में एक विकल्प मौजूद है।

भारतीय करदाताओं के पैसों को विदेशी संस्थानों के मुनाफे में तब्दील कर देना एक क्रूर मजाक है। हालाँकि तर्क यह दिया जा रहा है कि विदेशी संस्थानों के आने से भारतीय शिक्षा का स्तर बढेगा लेकिन एक रिपोर्ट के अनुसार कुल 1780 अमरीकी संस्थानों में से केवल 50 ने ही खुद को भारतीय बाजार के लिए प्रस्तुत किया है। जिनमें केवल 8 संस्थान ऐसे हैं जो अपने सम्बन्धित क्षेत्रों में शीर्ष 10 में गिने जाते हैं। ऑल इंडिया फोरम फॉर राईट टू एजुकेशन (एआईएफआरटीई) के अनुसार विश्व बैंक 2000 में ही गेट्स के शिक्षा की गुणवत्ता के तर्क को यह कहकर खारिज कर चुका है कि "विकसित देशों के नामचीन संस्थान पिछड़े देशों में अपनी निम्न स्तरीय शाखाएँ स्थापित करते हैं।"

इन तथ्यों की भयावहता और अधिक बढ़ जाती है जब हमें यह पता चलता है कि इन विदेशी निवेशकों या संस्थानों के ऊपर यूजीसी जैसी किसी भी संस्था का कोई नियंत्रण नहीं होगा। कुल मिलाकर बात यह है कि बड़े कोर्पोरेट घराने मिलकर विकासशील देशों की शिक्षा व्यवस्था पर कब्जा करना चाहते हैं। जिसमें गेट्स के साम्राज्यवादी मंसूबे को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता।

इन सबके बीच नॉन नेट फेलोशिप पर सरकार चुप्पी साधे हुए है और लगातार प्रयासरत है कि गेट्स की जानकारी अवाम तक न पहुचने दी जाय। नॉन नेट फेलोशिप तो एक शुरुआत भर है। सरकार जल्द ही अन्य सुविधाओं से भी हाथ खींच लेगी। भारत पूँजीवादी ताकतों के गिरोह में शामिल हो चुका है। जिसका मकसद आम जनता को दी जाने वाली सरकारी सहायता को जल्द से जल्द समाप्त करना है। शोध छात्रों-छात्राओं की एकजुटता और उनका संघर्ष सरकार के इन्हीं नापाक मन्सूबों के खिलाफ शिक्षा को बचाने की लड़ाई है।

--जीत

खून बेचकर घर चलाने को मजबूर किसान

झाँसी से 65 किलोमीटर दूर मऊरानीपुर के ग्राम बड़ागाँव में आज गरीबी, भुखमरी और सूखे के चलते किसानों को अपनी जरूरतों के लिए खून बेचकर पैसा जुटाना पड़ रहा है। इसी गाँव के एक 70 साल के बुजुर्ग किसान ने बताया कि उनका बच्चा बीमार हो गया था। नजदीक में कोई सरकारी अस्पताल नहीं होने के चलते उसे निजी अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा। लेकिन उनके पास इतना पैसा नहीं था कि वह दवाइयों का और अस्पताल का खर्च उठा सकें। इसलिए उन्हें 1500 रुपये में अपना खून बेचना पड़ा। तब कहीं जाकर अपने बेटे की जान बचा पाये लेकिन डॉक्टरों ने अब दोबारा खून लेने से मना कर दिया है, क्योंकि बूढ़े हो चुके शरीर में अब इतना खून नहीं बचा है। इसी गाँव में और भी कई ऐसे किसान हैं जिन्होंने कम से कम पाँच बार खून बेचकर अपने परिवार की जरूरतें पूरी की।

सूखे और बाढ़ के अलावा सरकार भी उनकी इस हालत की जिम्मेदार है। परियोजनाओं के नाम पर उनकी जमीनें ले ली गयीं और समय से मुआवजा नहीं मिला। इलाके की लाखों की जमीनें करोड़ों के भाव बिकने लगीं। इतनी महँगाई के बाद जब मुआवजा मिला तो उनकी वह आर्थिक हैसियत नहीं रह गयी कि वे दूसरी जगह पर जमीन खरीद सकें और न ही वे इतने शिक्षित थे कि कोई व्यापार ही शुरू कर दें। यही स्थिति कमोबेश आज देश-भर के किसानों की है। कहीं किसान फसलों के दाम न मिलने से निराश है तो कहीं फसल का भाव पिट जाने से। सूखा और बाढ़ के चलते किसानों की जिन्दगी बद से बदतर होती जा रही है। आखिर यह कैसी व्यवस्था है और ये कैसी सरकारें हैं, जिनके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती जबकि अन्नदाता किसान आज आत्महत्या करने और अपने शरीर से खून की एक-एक बूँद बेचने के लिए मजबूर है।

अमरावतीः पर्यावरण विनाश की कीमत पर स्वर्ग का निर्माण

--विक्रम प्रताप

तेलंगाना और आंध्र प्रदेश राज्य के बँटवारे के बाद से ही राजधानी का सवाल विवाद का मुद्दा बन गया। तेलंगाना को राजधानी के रूप में हैदराबाद के साथ ही 15 जिले तथा समुद्र तटीय और नदी किनारे के सम्पन्न इलाके मिले जबकि आंध्र प्रदेश को केवल 10 साल के लिए हैदराबाद के इस्तेमाल की अनुमति दी गयी। इसी अवधि में उसे अपनी अलग राजधानी बना लेनी है। यानी जिस हैदराबाद को चन्द्रबाबू नायडू ने अपने सपनों का शहर, यानी वैश्विक सॉफ्टवेयर केन्द्र में बदल दिया, उसे 10 सालों में छोड़कर नये स्वर्ग का निर्माण करना पड़ेगा। नायडू ने सॉफ्टवेयर केन्द्र विकसित करने की अपनी ख्याति को भुनाते हुए सिंगापुर से एक समझौता किया है, जिसके तहत वहाँ की कम्पनियाँ निजी-सार्वजानिक साझेदारी में 7500 वर्ग किलोमीटर के दायरे में 33 हजार हेक्टेयर जमीन पर अमरावती शहर का विकास करेंगी। यही शहर आंध्र प्रदेश की राजधानी होगा। इससे अर्थव्यस्था का ठहराव टूटेगा और बदले में वहाँ के निवासियों को जमीन अधिग्रहण, विस्थापन और रोजी-रोजगार में भारी उथल-पुथल का सामना करना पड़ेगा।

पिछले दिनों केन्द्र की भाजपा सरकार ने भूमि अधिग्रहण अध्यादेश जारी किया, तो देश-भर में उसका विरोध हुआ। जनान्दोलनों के दबाव में सरकार ने इस अध्यादेश को वापस ले लिया। इसे ध्यान में रखते हुए नायडू ने जमीन अधिग्रहण के लिए सुई जेनेरिस नाम की एक योजना बनायी हैं। इसके तहत उपजाऊपन और मौके-मुआईने के हिसाब से किसानों को एक एकड़ जमीन के लिए 1000, 1200 या 1500 वर्ग गज का प्लाट दिया जायेगा। अमरावती शहर विजयवाड़ा से 40 किलोमीटर दूर तुल्लार मण्डल में बनाया जायेगा। भूमि अधिग्रहण की इतनी बेहतरीन योजना को अंजाम देने के लिए इलाके में सरकार ने धारा 144 लगा दी है। भारतीय दण्ड संहिता की इस धारा के अनुसार अगर 10 से अधिक व्यक्ति उस प्रतिबन्धित इलाके में एक साथ इकट्ठा होंगे तो उसे दंगा माना जायेगा और आरोपियों को तीन साल की सजा या जुर्माना हो सकता है। जाहिर है किसान तीन फसली उपजाऊ जमीनें केवल कुछ हजार वर्ग गज के प्लाट के लिए अपनी मर्जी से नहीं देंगे क्योंकि केवल प्लाट मिल जाने से उनकी रोजी-रोटी कैसे चलेगी? वे उजड़ कर भूमि हीन मजदूर बन जायेंगे। जाहिर है कि वे इस परियोजना का विरोध करेंगे। इसको देखते हुए धारा 144 लगायी गयी है। जिसके दम पर किसानों से जबरन जमीनें छीनने की कवायद शुरू हो गयी है। किसान और गैर-खेतिहर आबादी ने इसका विरोध भी शुरू कर दिया है।

इलाके में छोटे दुकानदार, ठेले-खोमचे वाले बहुत खुश हैं, क्योंकि जब यहाँ सड़कें और बिल्डिंगें बनायी जाएँगी तो उनकी दुकान भी चल पड़ेगी। लेकिन इस योजना का असली फायदा कॉर्पोरेट और उद्योग जगत को होगा, उनकी ठहरी हुई अर्थव्यवस्था में एक धक्का लगेगा। सीमेंट, सरिया, कंकरीट और ऑटो उद्योग में कुछ जान आयेगी। यह योजना नवउदारीकरण के उस मॉडल पर आधारित है जिसके तहत पिछले 25 सालों से देश में विकास की बयार बहायी जा रही है। दुनिया-भर में इस मॉडल के आधार पर जहाँ भी विकास का कार्य किया गया, वहाँ मुट्ठीभर लोगों की सम्पत्ति में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई है। लेकिन इससे गरीबी दूर करने के दावे खोखले ही साबित हुए हैं। इतनी बड़ी परियोजना के लिए जब पुलिस-प्रशासन के बल पर विशाल भूभाग का अधिग्रहण किया जायेगा तो खेतिहर और गैर-खेतिहर लोगों के विस्थापन और बुरे दिनों के बारे में कौन सोचेगा? क्या राष्ट्र उनके साथ खड़ा होगा? यह एक अनुत्तरित सवाल नहीं है। इससे पहले भी राष्ट्रीय स्तर की परियोजनाओं में गैर-कृषक आबादी को हाशिये पर धकेल दिया गया। सड़कों के किनारे और रेलवे लाइनों के आस-पास झुग्गी-झोपड़ियों में गरीबी और तंगहाली के दिन गुजारते लोग आखिर कौन हैं? वे विकास की आँधी में उजाड़ दिये गये लोग हैं, जिनके लिए इस विकास मॉडल में कोई जगह नहीं।

आधुनिक तरीके से अमरावती शहर के निर्माण के लिए अगले कुछ महीनों में एक करोड़ से भी अधिक पेड़ काटे जायेंगे यह न केवल वन संरक्षण नियम का खुला उल्लंघन है जिसके अनुसार काटे गये वन क्षेत्र से दुगुनी जमीन पर वन लगाना जरूरी है, बल्कि विविधतापूर्ण जंगल को नष्ट करना भी है। जिसमें सागौन, नीम और चन्दन के पेड़ों के साथ छोटे तालाब, पेड़-पौधे, जानवर, पक्षी और तमाम जीव-जन्तु खत्म हो जायेंगे जो किसी इलाके में पर्यावरण सन्तुलन के लिए बहुत जरूरी होते हैं। इससे होनेवाले पर्यावरण विनाश की बस कल्पना की जा सकती है। हाल में चेन्नई बाढ़ ने सैकड़ों लोगों को निगल लिया और हजारों लोगों से आसरा छीन लिया। वहाँ पीने के पानी और गटर के पानी में कोई अन्तर नहीं रह गया है। सरकारी सहायता के नाम पर बस कुछ खाने के पैकेट बाँटे गये। अमरावती शहर बसाने में पर्यावरण कानूनों की पूरी तरह धज्जी उड़ाते हुए विनाश को न्यौता दिया जा रहा है। पर्यावरण विनाश के चलते बाढ़, सूखा, बीमारी और विस्थापन की समस्या से लोगों की जिन्दगी दूभर हो जाएँगी। लेकिन आज शासक वर्ग के पास विकास का इससे अलग कोई दूसरा मॉडल नहीं है जिसमें पर्यावरण का विनाश न हो और गरीबों को विकास की राह का रोड़ा या दुश्मन न समझा जाये। विकास के ऐसे मॉडल के लिए, जिसमें भारत की व्यापक जनता की सहभागिता हो और प्रकृति का संरक्षण भी हो, हमें एक नये समाज का निर्माण करना होगा।

बाहरी–भीतरी दबावों के बीच नेपाल का नया संविधान

--प्रवीण

तमाम उठापटक, उतार-चढ़ाव और बाहरी-भीतरी दबावों से गुजरते हुए आखिरकार 20 सितम्बर 2015 की शाम नेपाल को अपना नया संविधान मिल गया। पिछले 7 सालों से लगातार बढ़ती उमस के बाद नेपाल की जनता ने ठंडी हवा के झोंके और तेजाब की बूँदा-बाँदी दोनों एक साथ महसूस की। इन दोनों में से कौन-सी चीज किसे कितनी मिली, यह उसकी सामाजिक स्थिति पर निर्भर है। 2008 के अन्तरिम संविधान के बरक्स नये संविधान को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि 7 साल पहले नारायणहिती का घेरा डाले खड़ी क्रान्ति इस पश्च्यगामी संक्रमण काल में कितना पीछे जा चुकी है और नेपाल के क्रान्तिकारी नेतृत्व के क्रान्ति से विमुख हो जाने का, खुद उस पर और नेपाल की जनता पर क्या प्रभाव पड़ा है। शुक्र है कि पश्च्यगामी संक्रमण का यह दौर केवल 7 साल ही रहा। अगर और थोड़ा बढ़ता तो यह भी सम्भव था, नारायणहिती में दिवाली और काठमाण्डू की गलियों में मातम मनते।

एक छोर पर राजशाही समर्थक धुर दक्षिणपंथी पार्टी और दूसरे छोर पर भूतपूर्व क्रान्तिकारी, माओवादी पार्टी के बीच, रंगबिरंगी पार्टियों की मिली-जुली संविधान सभा से जैसा संविधान बनने की उम्मीद थी नेपाल का नया संविधान वैसा ही है। एक तरफ यह विधायिका में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण सुनिश्चित करके अपना प्रगतिशील रूप दिखाता है तो दूसरी ओर नेपाली महिला की कोख से नेपाल में पैदा हुए विदेशी पुरूष के बच्चे को नागरिकता का अधिकार न देकर अपना मध्ययुगीन प्रतिगामी चेहरा भी दिखाता है। संविधान में धर्मनिरपेक्षता को तो कायम रखा गया है लेकिन गाय को राष्ट्रीय पशु का दर्जा भी दिया गया है। विधायिका में संख्यात्मक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था को भौगोलिक क्षेत्रफल के आधार पर प्रतिनिधित्व से जोड़कर सीमित कर दिया गया है। संविधान सभी नागरिकों के लिए समान अधिकारों की घोषणा करता है और किसी भी व्यक्ति को कोई विशेषाधिकार नहीं देता लेकिन कई तरह की दूसरी शर्तों के चलते मधेशियों की नागरिकता सीमित कर देता है। खुशी की बात यह है कि वर्तमान भारतीय शासकों के दबाव के बावजूद नेपाल को हिन्दू राष्ट्र नहीं बनाया गया, लेकिन 2008 के अन्तरिम संविधान के बरक्स जनता को बुरी तरह छला गया है जो दुखद है।

अपनी तमाम खूबियों-खामियों के बावजूद संविधान को अन्तिम रूप दिया जाना और संक्रमणकाल का अन्त होना खुद में सकारात्मक है। 7 साल के लम्बे संक्रमण काल में नेपाल की राजनीति के सकारात्मक तत्त्वों का तेजी से क्षरण हुआ है और सम्भव था कि यह राजशाही की वापसी की दिशा में भी बढ़ सकती थी। इसके साथ ही भारत में भाजपा के सत्ता मे आ जाने से नेपाल के संकट के गहराने की सम्भावनाएँ बढ़ गयी थीं। प्रधानमंत्री मोदी ने नेपाल की संविधान सभा में अपने भाषण में 'सर्वसहमति' और 'ऋषिमन' से संविधान बनाने का उपदेश दिया था। जिस संविधान सभा में माओवादी पार्टी के साथ राजशाही समर्थक पार्टी के प्रतिनिधि भी शामिल हों, वहाँ सर्वसहमति से कैसा संविधान बन सकता था। पिछले 7 साल में संक्रमण काल बढ़ने के साथ-साथ माओवादियों की स्थिति कमजोर होती गयी है। जनपक्षधर और प्रगतिशील पार्टियों के कमजोर होने के साथ-साथ राजशाही की आंशिक या पूर्ण वापसी की सम्भावना बढ़ती जा रही थी।

भारत में चाहे किसी भी पार्टी की सरकार हो उसने नेपाल की सम्प्रभुता को चुनौती देते हुए वहाँ के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप और अपने हितों के अनुरूप वहाँ की नीतियों को प्रभावित करने की कोशिश की है। संविधान की घोषणा के एक दिन पहले नरेन्द्र मोदी के विशेष दूत के रूप में विदेश सचिव एस जयशंकर काठमाण्डू गये और तीनों प्रमुख पार्टियों के नेताओं से मिले। उन्होंने मधेस समस्या के समाधान तक संविधान की घोषणा को टाल देने का 'आदेशात्मक अनुरोध' किया था। लेकिन उनका यह अनुरोध स्वीकार नहीं किया गया। यह आज के अहमन्य भारतीय नेतृत्व के लिए असहनीय था। नेपाल की इसी धृष्टता का दंड था कि मधेसी असन्तोष के बहाने भारत ने एकतरफा नाकेबन्दी की घोषणा कर दी। बाद में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर फटकार के बाद आनन-फानन में घोषित नाकेबन्दी का आदेश तो वापस ले लिया गया, लेकिन परोक्ष रूप से नाकेबन्दी जारी है। इसका परिणाम यह है कि आज नेपाल के बच्चे बिना दवाओं के मर रहे हैं। पहाड़ के ऊपरी इलाकों में मिट्टी के तेल की कमी से लोग ठंड से मर रहे हैं। रोजमर्रा की जरूरतों के सामानों की भारी कमी है। नमक 100 रुपये किलो बिक रहा है। अमरीका हथियारों से जो कहर ढाता है उसे भारत के शासक आपूर्ति रोककर आर्थिक हथियारों से अंजाम दे रहे हैं।

भारतीय शासकों के हस्तक्षेप से स्थिति

इतनी जटिल हो गयी है कि नेपाल का नेतृत्व यदि मधेसियों से बात करे भी तो उसके लिए यह आसान नहीं होगा। मधेसी नेतृत्व में इतना दम नहीं है कि वह भारत को नाराज करके बात करे। इसमें उसके राजनीतिक भविष्य के खत्म हो जाने का खतरा है। चीन से माल आपूर्ति का कोई मुक्कमल जरिया नहीं है। नेपाल ऐसा करके भारत को एक नया बहाना भी नहीं देना चाहता।

इसमें कोई शक नहीं कि नेपाल के नये संविधान में मधेसियों के हितों की अनदेखी की गयी है। मधेसियों की अलग प्रदेश की माँग भी जायज है। नेपाल के राजाओं ने भी पूरे तराई इलाके के साथ बाहरी जैसा व्यवहार किया था। हाल तक मधेसियों की सेना में भर्ती पर रोक थी। पूरे तराई में नेपाल की लगभग आधी आबादी रहती है। सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से इस पूरे क्षेत्र का जुड़ाव भारत के साथ अधिक है। इसीलिए नेपाली अन्धराष्ट्रवादी शासक यहाँ के निवासियों के साथ दोयम दर्जे का व्यवहार करते रहे हैं। दूसरी ओर यह भी है कि नेपाल में थोड़ी समृद्धि यहीं दिखायी देती है। देश की अधिकांश औद्योगिक इकाइयाँ यहीं हैं। स्कूल, कॉलेज, अस्पतालों की संख्या भी आनुपातिक रूप से यहाँ बहुत ज्यादा है। नेपाल का दो तिहाई अनाज इसी क्षेत्र में पैदा होता है। इसी आधार पर नेपाल के शासक गरीब पहाड़ी आबादी के बीच यह प्रचार करते हैं कि तराईवाले नेपाल को लूट रहे हैं। दरअसल इस क्षेत्र की 80 फीसदी से भी ज्यादा जमीन नेपाल के कुलीन लोगों के कब्जे में है। असली मधेसी अधिकांशतः इन्हीं जमीनों पर बटाईदारी, मजदूरी या दूसरे छोटे-मोटे धन्धों में लगे हैं। बहुत कम लोगों के पास अपनी जमीन हैं। है भी तो छोटी जोत की नेपाल का उच्च जातीय शासक वर्ग इस विशाल आबादी (नेपाल की कुल आबादी की एक तिहाई) को विपन्न और उत्पीड़ित की स्थिति में बनाये रखना चाहता है। पूरे नेपाल में इनके खिलाफ दुष्प्रचार करके और इनकी राष्ट्रभक्ति को सन्देह के घेरे मे लाकर वह नेपाल की पहाड़ी आबादी के अहं और अन्धराष्ट्रवाद को तुष्ट करता रहता है और पहाड़ी-मैदानी जनता की एकता की हर सम्भावना को खत्म करने के लिए काम करता है। उसे डर है कि स्थिति बदलने पर कहीं जमीन के सामन्ती मालिकाने पर संकट न आ जाये। अतीत में माओवादियों ने इस समस्या को बहुत अच्छे ढंग से समझा था। उन्होंने नस्ल और जाति से उपर उठकर वर्गीय आधार पर गरीब मधेसी और गरीब पहाड़ी के बीच एकता कायम की थी। उन्हें काफी सफलता भी मिली थी। आज भी मधेस में उनका अच्छा आधार है। लेकिन जब माओवादी अपना रास्ता बदल चुके हैं तो समस्या अपनी पुरानी जटिलता के साथ फिर सामने आ गयी है। प्रचण्ड ने मधेसियों की समस्याओं के लिए एक संवैधानिक आयोग बनाने, पुनः सीमांकन करने और संविधान में संशोधन करने का वादा तो किया है, लेकिन इससे गतिरोध टूट पायेगा, कहा नहीं जा सकता।

संविधान पिता की सम्पत्ति पर पुत्र और पुत्री के समान अधिकार की घोषणा करता है। नेपाली लड़के और विदेशी लड़की से जन्मी सन्तान को भी नेपाली नागरिक मानता है। लेकिन नेपाली लड़की और विदेशी लड़के से नेपाल में पैदा हुई सन्तान को भी नेपाली नागरिक के रूप में स्वीकार नहीं करता है। यह संविधान का सबसे घटिया पहलू है। इस धारा के आधार पर तराई के लाखों लोगों की नागरिकता खतरे में पड़ जाएगी। इस मकसद से भी तराई की मेहनतकश आबादी को दोयम दर्जे और विपन्नता की स्थिति में बनाये रखना है। हालाँकी ऐसे मामलों में नागरिकता हासिल करने के लिए कुछ जटिल प्रशासनिक प्रक्रियाएँ बनायी गयी हैं, लेकिन तराई के लोगों को हीन समझनेवाली नेपाल की नौकरशाही के जरिये इन तरीकों से नागरिकता हासिल करने की सम्भावना बहुत कम है। गजब की बात यह है कि पूरी दुनिया के लोग इसे लेकर संविधान की आलोचना कर रहें हैं, लेकिन भारत सरकार इस पर खामोश है। नेपाल के संविधान को आज की वैश्विक स्थिति और नेपाल की अपनी जटिल परिस्थिति से अलग करके नहीं देखा जा सकता। आज साम्राज्यवाद पतित होकर आर्थिक नव उपनीवेशवाद के दौर में पहुँच चुका है। वित्तीय पूँजी अपनी परजीविता के नये सोपान पर पहुँचकर आवारा पूँजी के रूप में दुनिया को संचालित कर रही है। अमरीका और उसके समूह 7 के गिरोह को चुनौती देनेवाली कोई प्रबल ताकत मौजूद नहीं है, पूरे विश्व को एक ऐसे सोपान-क्रम में बाँध दिया गया है कि हर लुटेरे को अपनी हैसियत अनुसार उसमें हिस्सा मिल रहा है। इस वैश्विक सोपान-क्रम पर चोट करनेवाली मेहनतकशों की लामबन्दी दूर-दूर तक नजर नहीं आती। छोटा-सा नेपाल साम्राज्यवादी लूट में अपना-अपना हिस्सा बाँटने की जुगत में लगे महाशक्ति बनने के नशे में चूर दो महादेशों के बीच के भूभाग में कैद हैं। उसके पास कोई समुद्र तट नहीं है जिससे नेपाल को दुनिया के साथ प्रत्यक्ष व्यापार करने में सहूलियत हो।

तीन तरफ से हिमालय की दुर्गम चोटियों और एक तरफ भारत से घिरे, पिछड़े और छोटे मुल्क नेपाल के पास ज्यादातर जरूरतों के लिए भारत की ओर रुख करने के अलावा और कोई चारा नहीं। आमतौर पर आजादी के बाद से ही और खास कर 2008 के बाद ऐसा शायद ही कोई दिन हो जब भारत ने नेपाल पर दबदबा बनाने कि कोशिश न की हो। हिन्दुत्व के झंडाबरदार आये दिन नेपाल को हिन्दूराष्ट्र घोषित करने की सलाहें दे रहे थे, भारत के गृहमंत्री भी नेपाल को हिन्दूराष्ट्र बनते देखने की अपनी मंशा सार्वजनिक रूप से जाहिर कर चुके हैं। भाजपा सांसद महन्त आदित्यनाथ ने जुलाई 20 में नेपाल के प्रधानमंत्री सुशील कोइराला और संविधान सभा के अध्यक्ष नेमवांग को पत्र लिखकर माँग की थी कि नेपाल को वैसी ही हिन्दूराष्ट्र की हैसियत दी जाये जैसी राजशाही के समय थी। विश्व हिन्दू परिषद के दिवंगत नेता अशोक सिंहल- इस बारे में कई बार बयान दे चुके थे। माओवादी पार्टी के कमजोर होने और भारत में नरेन्द्र मोदी के सत्ता में

आ जाने के बाद नेपाल के हिन्दुत्ववादी भी 'हिन्दूराष्ट्र' की माँग करने लगे थे।

नेपाल के 'हिन्दूराष्ट्र' होने का मतलब शासन में आंशिक या पूर्ण रूप से राजाशाही की वापसी ही है। नेपाल की राजाशाही के साथ भारतीय शासकों और छोटे-बड़े पूँजीपतियों के रिश्ते प्रगाढ़ रहे हैं। भारत अपने इस पड़ोसी का केवल निचले स्तर का औद्योगिक-व्यापारिक शोषण ही कर सकता है। ऊपरी स्तर के शोषण और वहाँ की प्राकृतिक सम्पदा के दोहन के लिए इफरात पूँजी और आधुनिक तकनीक चाहिए जो भारत के पास नहीं है। इसलिए भारत का हित इसी में है कि नेपाल मध्ययुगीन अवस्था में ही पड़ा रहे। अगर नेपाल में थोड़ा भी दूरदर्शी और स्वाभिमानी नेतृत्व सत्ता में आता है तो स्वाभाविक रूप से उसके चीन के सम्पर्क में जाने की सम्भावना है। चीन के पास तकनीक और पूँजी दोनों है। वह चाहे तो नेपाल के पहाड़ों में रेल लाइन का जाल बिछा सकता है। कुछ हद तक नेपाल का औद्योगीकरण भी कर सकता है। लेकिन उसके सामने 'ब्रिक्स' का सपना है। वह अभी भारत के साथ टकराव नहीं चाहेगा। नेपाल का शासक वर्ग भी तरक्की के दौर का पूँजीपति वर्ग नहीं है, बल्कि एक ऐसा वर्ग है जो अभी 10 साल पहले तक राजशाही के सामने सर नहीं उठाता था। 2008 के जन विप्लव के समय भी यह वर्ग राजा से डरकर माओवादियों के पीछे छिपा बैठा था। अगर माओवादी और अन्य जनवादी ताकतें बीच से हट जायें तो फिर राजा के सामने सजदा करने लगेगा।

इन तमाम परिस्थितियों से आँखे मूँदकर यह कल्पना करना कि नेपाल वह क्रान्तिकारी संविधान बनायेगा या संविधान से स्वतंत्रता, समानता, भाईचारे के आदर्शों की खुशबू आयेगी, यह बबूल का पेड़ उगाकर आम पाने की इच्छा जैसा है। जिस तरह का नेतृत्व नेपाल की सत्ता में है, उसके लिए यही बहुत है कि उसने भारत के विशेष दूत को खाली हाथ लौटा दिया। नेपाल के इतिहास में यह पहली बार है कि उसने भारत के दबाव को नकारते हुए एक धर्मनिरपेक्ष संविधान बनाया है। यही नहीं उसने हाल ही में वहाँ अन्धविश्वास फैलाने वाले टी.वी. चैनलों और गण्डा-ताबीज बेचने वाले विज्ञापनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। नेपाल के संविधान सभा मे मधेसी मुद्दे पर संविधान संशोधन होने की भी सम्भावना बन रही है।

आज नेपाल की मेहनतकश जनता के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि अब तक भ्रष्ट होने से बचे, क्रान्ति से पीछे हटकर संविधान सभा बनाने और 7 साल के संक्रमण काल के दौरान जनता की राजनीतिक शक्ति, एकजुटता और जुझारूपन का जो क्षरण हुआ है, उसका क्या सार संकलन करती है। अपने लिए क्या चुनौतियाँ और कार्यभार निकालती है। कुल मिलाकर नेपाल की क्रान्ति को किस तरह आगे बढ़ाया जा सकता है। दुनिया का मेहनतकश उनकी ओर बहुत उम्मीद भरी निगाहों से देख रहा है।

बाल मजदूरों की भयावह स्थिति

जिन बच्चों के हाथों में किताबें और आँखों में भविष्य के सुनहरे सपने होने चाहिए, वे मासूम फैक्ट्री और ढाबे में मजदूरी कर रहे हैं। सरकारी आँकड़ों के अनुसार बाल मजदूर 43 लाख हैं जबकि बचपन बचाओ आन्दोलन के अनुसार बाल मजदूरों की संख्या 117 लाख है। इनमें काम की तलाश करनेवाले बाल मजदूर भी शामिल हैं। किसी विद्वान ने कहा है कि किसी देश की तरक्की का अन्दाजा लगाना हो तो वहाँ के बच्चों और औरतों की स्थिति देखनी चाहिए। बचपन की खुशियों को भूल चुके 117 लाख बच्चों को देखकर देश की तरक्की के दावों का भ्रम टूट जाता है। डिप्लोमा और बीटेक करनेवाले नौजवानों के लिए रोजगार नहीं है लेकिन इन बच्चों को बिना माँगे नौकरी मिल जाती है। ढाबा, फैक्ट्री, घरों में नौकर और अन्य जगहों पर इनकी भारी माँग बनी रहती है। अकसर लोग बच्चों से सस्ती मजदूरी में 12-18 घंटे तक श्रम करवाते हैं। ये बच्चे इस शोषण के खिलाफ न तो संगठित हो सकते हैं और न ही इनका विरोध कर सकते हैं। इसलिए इन फैक्ट्रियों में नौजवानों के बजाय बच्चों को रोजगार मिलता है। एक सर्वे के अनुसार 6 से 14 वर्ष की आयु के 339 लाख बच्चे स्कूल की पढ़ाई बीच में ही छोड़ देते हैं। अब इन बच्चों के बाल मजदूर बन जाने की सम्भावना अधिक है। इन बच्चों के पढ़ाई छोड़ने का कारण इनके परिवार की खराब आर्थिक स्थिति होती है। क्योंकि इनकी मूलभूत जरूरतें भी पूरी नहीं हो पाती हैं तो ऐसे में मजदूरी ही एकमात्र रास्ता बचता है। सबसे अधिक बाल मजदूर कपड़ा और जूट उद्योग में हैं और उसके बाद जूतों की फैक्ट्री और होटल उद्योग में हैं।

ज्यादातर बच्चे रात-दिन खटते हैं। उन्हें काम के पैसे कम मिलते हैं। जैसे-तैसे कुछ न कुछ खा-पीकर पेट भरते हैं। कुपोषण के चलते बीमारियों के शिकार हो जाते हैं और कुछ दुर्घटना के शिकार हो जाते हैं। इन बच्चों का इतना शोषण और उत्पीड़न होता है कि अधिकांश नौजवान होने से पहले ही बूढ़े हो जाते हैं। बाल मजदूरी का एक और रूप है, जिसमें एक रिपोर्ट के अनुसार 14 वर्ष से कम आयु के 21 प्रतिशत बच्चे अपने अभिभावकों या रिश्तेदारों के काम में हाथ बँटाते हैं। मौजूदा श्रम-कानूनों में फेर-बदल करके बाल मजदूरी को बढ़ावा दिया जा रहा है। लेकिन यह भी सही है कि मात्र कानूनी तरीके से बाल मजदूरी को खत्म नहीं किया जा सकता है। इसके समाधान के लिए वयस्क होने तक इन बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षा-स्वास्थ्य की जिम्मेदारी सरकार को उठानी चाहिए।

क्या सीरिया का भविष्य लीबिया और इराक से अलग हो सकता है?

(कार्लोस मार्टिनेज एक स्वतंत्र साम्राज्यावाद विरोधी कार्यकर्ता, लेखक और संगीतकार हैं। उन्होंने सीरिया के गृहयुद्ध और उसके भविष्य के बारे में डॉ. इस्सा चाएर से बात की। डॉ. इस्सा चाएर एक सीरियाई हैं जो लन्दन में स्थित सीरियाई सोशल क्लब के सदस्य भी हैं। उन्होंने बताया कि हमने ब्रिटेन में उन लाखों सीरियाई लोगों की आवाज बनने का फैसला किया जिन्हें अन्तरराष्ट्रीय मीडिया अनदेखा कर रहा था। हमने इन्टरव्यू, धरना, प्रर्दशन और अन्य उपायों से सीरिया में जो हो रहा है उसकी सच्ची खबरें फैलाने का फैसला किया, ताकि सीरियाई जनता की शान्ति की आकांक्षा को चिन्हित किया जा सके और सीरिया की अखण्डता और सुरक्षा को बनाये रखने में सहयोग किया जा सके-- सम्पादक)

कार्लोस मार्टिनेज- आप बातचीत के लिए राजी हो गये इसके लिए धन्यवाद। आप सीरियाइ संघर्ष के बारे में लोगों को जानकारी देने में बहुत सक्रीय रहे हैं। क्या आप बता सकते हैं कि आपने इस काम के लिए इतना अधिक समय और ऊर्जा खर्च करना क्यों उचित समझा?

इस्सा चाएर-- संघर्ष के शुरुआती कुछ हफ्तों के दौरान, विदेशों में रहनेवाले हम सीरियाई लोग उन रिपोर्टों को असहाय होकर देख रहे थे जो विभिन्न अरबी समाचार एजेन्सियों से हमारे पास आ रही थी। उसी समय, जो सूचना हमें सीरिया में रहनेवाले अपने परिवार के सदस्यों और साथियों से मिल रही थी, वह एजेंन्सियों की खबरों के विपरीत थी। सीरिया यात्रा के दौरान हमारे व्यक्तिगत अनुभव ने सीरिया के बारे में फैलायी जा रही समाचार एजेन्सियों की गलत खबरों की पुष्टि की। यात्रा के दौरान हमने उनके झूठ को पकड़ा और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वास्तविक खबरें प्रसारित करने के बजाय ये मीडिया घराने अपनी खुद की खबरे गढ़ रहे हैं और हमने देखा कि वे सीरिया को निशाना बनानेवाले एक बड़े षड़यंत्र का हिस्सा हैं। इसलिए, हमने ब्रिटेन में उन लाखों सीरियाई लोगों की आवाज बनने का फैसला किया जिन्हें अन्तरराष्ट्रीय मीडिया अनदेखा कर रहा था। हमने इन्टरव्यू, धरना प्रर्दशन और अन्य उपायों से सीरिया में जो हो रहा है उसकी सच्ची खबरें फैलाने का फैसला किया, ताकि सीरियाई जनता की शान्ति की आकांक्षा को चिन्हित किया जा सके और सीरिया की अखण्डता और सुरक्षा को बनाये रखने में सहयोग किया जा सके।

कार्लोस मार्टिनेज- विलियम ह्यूज ने फिर से घोषणा की है कि ब्रिटेन की सरकार सीरिया में विरोधियों को ''50 लाख पाउण्ड'' की धनराशि फिर से मुहैया करायेगी। इसी बीच, अमरीका और ब्रिटेन ने सऊदी, बहरीन और कतर के शाही घराने से मधुर सम्बन्ध बनाये रखा है। ये नेतृत्त्वकारी पश्चिमी राष्ट्र सीरिया के विद्रोह का क्यों समर्थन करते हैं, जबकि बहरीन में उठे विद्रोह का विरोध करते हैं?

इस्सा चाएर-- यह दोहरा मानदण्ड है। व्यवहार में, अब जो अरबी दुनिया में हो रहा है, वह 1916 के साइकेस-पिकोट समझौते का भूल सुधार है, उस समय औपनिवेशिक शक्तियाँ, बिट्रेन और फ्रांस ने अरब राज्यों की सीमाएँ खींच दी थी और उनमें अपनी कठपुतली सरकार बैठा दी। सऊदी, बहरीन और कतर में किसी भी तरह के लोकतन्त्र का अभाव है और इनके मानवाधिकार का लेखा-जोखा अत्यन्त नृशंसतापूर्ण है। फिर भी पश्चिमी ताकतें इन देशों की सरकारों का समर्थन कर रही हैं क्योंकि ये उन्हें अपना सहयोगी मानती हैं जो इस क्षेत्र में पश्चिमी ताकतों के वित्तीय, राजनीतिक और रणनीतिक स्वार्थों के रक्षक हैं। दूसरी ओर, सीरिया एक प्रमुख स्थानीय खिलाड़ी के रूप में देखा जाता है जिसका लेबनान के प्रतिरोध आन्दोलन (खास तौर से हिजबुल्लाह) और ईरान के साथ मजबूत सम्बन्ध हैं। ये दोनों लम्बे समय से इजराइली रणनीति के रास्ते के खतरनाक काँटे हैं। ऐसे में, आज सीरिया मध्य पूर्व में उसकी एकमात्र रणनीतिक कड़ी है। इसके चलते पश्चिमी देशों ने यह मौका ताड़ लिया और विरोधी गुटों का समर्थन करने के जरिये सीरिया को पश्चिम का संश्रयकारी बनाने का प्रयास शुरू कर दिया। यह लक्ष्य पाते ही पश्चिमी ताकतों का इस इलाके में पूरा वर्चस्व कायम हो जायेगा और वे ईरान को अलग-थलग करने में या उसकी सम्भावित सत्ता पलटने में कामयाब हो जायेंगे।

इस नवउदारवादी योजना में यह भी शामिल किया गया है। दो या अधिक अरब पार्टियाँ सीरिया के शासन पर आक्रमण करेंगी

और यह लडाई तब तक जारी रखेंगी, जब तक यह राज्य टूट न जाय और क्षेत्रवादी रास्ते पर बिखरकर 2-3 राज्यों में बदल न जाय। ऐसे देशों को पश्चिमी ताकतें आसानी से नियन्त्रित कर लेंगी और सम्पदा की लूट के लिए वहाँ औपनिवेशिक शासक बैठा दिये जायेंगे, यह उसी तरह से किया जायेगा जैसा मिस्टर साइकेस और मोशिये पिकोट ने लगभग एक शताब्दी पहले सोचा था।

कार्लोस मार्टिनेज- ऐतिहासिक तौर पर सीरिया एक धर्मनिरपेक्ष और सहिष्णु राष्ट्र के रूप में जाना जाता है। आज हम जो क्षेत्रवादी हिंसा देख रहे हैं, उसकी जड़ें कहाँ हैं?

इस्सा चाएर-- पिछले दस सालों के दौरान इस पूरे इलाके में कई तत्त्वों ने क्षेत्रवाद को प्रभावित किया है और जो सीरिया में भी प्रवेश कर चुका है-

1. इराक युद्ध के बाद क्षेत्रवाद इस पूरे इलाके में फिर से भड़क उठा। राजनीतिक स्वामी, मुख्य औपनिवेशिक ताकतें तथा अपनों की सेवा में लीन सऊदी और कतर के अलोकतांत्रिक शाही घरानें इलाके में इसे उकसा रहे हैं और तुर्की व अलकायदा के धड़े गुपचुप तरीके से इनकी सहायता कर रहे हैं।

2. मुस्लिम ब्रदरहुड के पुरोहित जो 1980 में सीरिया भाग गये थे, वे भी पिछले दस सालों में (इराक युद्ध के बाद) सऊदी अरब के वहाबी सम्प्रदाय के साथ खूब फले-फूले हैं। सऊदी की सब्सिडी पाकर उन्होंने काफी सक्रियता से टीवी चैनलों और प्रकाशन कम्पनियों को स्थापित किया है जो धार्मिक किताबें छापकर अल्पसंख्यकों और ईसाइयों के खिलाफ नफरत फैला रहे हैं। ऐसे प्रोपगेण्डा बिना सुराग के सीरिया में प्रवेश कर गये और उन्हें हथियार उठाने के लिए प्रोत्साहित करने मे इस्तेमाल किये गये।

3. संकीर्णतावादी विरासतवाले कुछ मौलवियों ने यही काम पश्चिमी देशों जैसे- इंग्लैण्ड, जर्मनी, हॉलैण्ड, फ्रांस और बेल्जियम में किया। यहाँ वे बराबरी और विविधता जैसे कानूनों के तहत बनी कुछ मस्जिदों में पहली पीढ़ी के अप्रवासियों और उनके बच्चों को क्षेत्रवाद और घृणा का उपदेश देते हैं। लेकिन इनमें से एक, जिसका अन्तरराष्ट्रीय प्रभाव है और जो अलकायदा और उसके अन्य गुटों से जुड़ा है, उसने शुरुआती मीडिया सुर्खियों के जरिये ख्याति हासिल की और अपनी क्षेत्रवादी विचारधारा को दुनिया में फैलाने के लिए डिजिटल मीडिया तकनीक का इस्तेमाल किया। दुर्भाग्य से लेबनान, जॉर्डन, सीरिया, इराक, सऊदी और तुर्की के कुछ नौजवान उनके जाल में फँस गये।

कार्लोस मार्टिनेज- क्या सीरिया की सरकार गिर सकती है? इसके बाद आप के हिसाब से विरोध पक्ष का कौन सा धड़ा इस सत्ता के खालीपन को भर सकता है?

इस्सा चाएर-- विरोधी गुट अभी बैठे हुए हैं और विरोध के कुछ गुटों की अतिवादी विचारधारा किसी भी मैत्रीपूर्ण एकता को बाधित करती है या मध्यममार्गी गुटों को नेतृत्त्व करने से रोकती है। इसलिए यदि सरकार गिरती है, हम आनेवाले 2-3 सालों के दौरान हिंसा में उभार देखेंगे और यह हिंसा स्थानीय रूप से लेबनान, तुर्की और इराक में भी फैल जाएँगी, दृश्यपटल पर बाहरी सम्पर्कों वाले नये गुट उभरेंगे। बाथ पार्टी की सरकार गिरने की स्थिति में लेबनानी मॉडल पर आधारित गठबन्धन की सरकार ही एक मात्र समाधान होगा। लेकिन इसमें काफी समय लगेगा।

कार्लोस मार्टिनेज- सीरिया की स्थिति पर इजराइल लगभग चुप है। आपके हिसाब से वह इस परिस्थिति को कैसे देखता है?

इस्सा चाएर-- सीरिया में संघर्ष से इजराइज को सीधे फायदा हो रहा है और मैं मानता हूँ कि वे संघर्ष को लम्बा खीचने की भरसक कोशिश करेंगे क्योंकि उनकी नजर में इससे सीरिया की सेना कमजोर होगी और इस तरह इलाके में लम्बे समय से चला आ रहा, कुछ हद तक सफल इजराइल- विरोधी गठबन्धन भी कमजोर हो जायेगा यह इलाके में विभाजन को और अधिक बढ़ावा दे सकता है जो इजराइल के विस्तार के लिए दरवाजे खोल सकता है।

कार्लोस मार्टिनेज- शान्तिपूर्ण समाधान की दिशा में ईरान नेतृत्त्व में ताजा अन्तरराष्ट्रीय पहलकदमी को पश्चिमी मीडिया ने आम तौर पर अनदेखा किया। क्या आप सोचते हैं कि इस पहलकदमी की सफलता की कोई सम्भावना है?

इस्सा चाएर-- ईरान द्वारा संघर्ष के सम्बन्ध में प्रस्तावित सभी विचार तार्किक हैं और सीरिया में राजनीतिक समाधान को आगे बढ़ाने के प्रयास के लिए ईरान सम्मान का अधिकारी है। ईरान ने सभी भागीदार देशों को एक मध्यस्थ समूह स्थापित करने का सूझबूझ भरा प्रस्ताव दिया, जिसका उद्देश्य हिंसा को खत्म करना तथा सीरियाई सरकार और विरोधियों के बीच आपस में मिलकर वार्ता शुरू करना है। अगर इसे इलाकाई समर्थन मिला तो यह उस समानान्तर प्रक्रिया की तरह सफल हो सकेगा, जिसे संयुक्त राष्ट्र के नये राजदूत, अल-अखदर अल-इब्राहिमी ने शुरू किया था। युद्ध को खत्म करने की दिशा में ऐसी पहलकदमी पश्चिमी देशों के उस प्रयास की तुलना में अधिक सहायक है जिसमें सीधे विरोधियों का साथ दिया गया। (हथियार, धन और प्रोपागेंडा के जरिये)

कार्लोस मार्टिनेज - सीरिया के विरुद्ध ताकतों की आश्चर्यजनक शृंखला है, जिसमें अमरीका, फ्रांस, ब्रिटेन, सऊदी अरब, कतर और किसी भी समय आक्रमण के लिए तैयार इजराइल शामिल हैं। क्या लीबिया और इराक जैसे भविष्य से सीरिया बच सकता है?

इस्सा चाएर-- सीरिया की भौगोलिक संरचना और घटना का समय लीबिया की घटना के दुहराव के लिए पूरी तरह प्रतिकूल है। पश्चिमी देश छद्म तरीके से युद्ध जारी रखेंगे, जबकि नवम्बर में अमरीकी जमीनी सैन्य टुकड़ी को शामिल करने की नयी रणनीति के बारे में सोच सकते हैं। लेकिन इसमें सहमति की जरूरत पड़ेगी और यह एक खतरनाक चाल साबित हो सकती है क्योंकि इराक और अफगानिस्तान के युद्धों के दुष्परिणामों को जनता भूल नहीं पायी है।

कार्लोस मार्टिनेज- क्या सीरिया की सरकार ने सीरिया में अपना महत्त्वपूर्ण समर्थन आधार बरकरार रखा है?

इस्सा चाएर-- सीरिया में निवास करनेवाले सीरियाई लोगों के बीच बहस का मुख्य मुद्दा आज वही शान्ति और सुरक्षा है, जिसके वे पिछले 30-40 सालों से अभ्यस्त हैं- यही सबसे महत्त्वपूर्ण चीज है जिसकी ओर वे वापसी चाहेंगे। इसलिए सीरिया की सरकार का समर्थन काफी हद तक आज जनता की इस खोई सुरक्षा को बहाल करने की सरकार और सेना की योग्यता पर निर्भर है। जब तक सेना मजबूत है और जब तक उसका वर्चस्व है, लोकप्रिय समर्थन जारी रहेगा।

कार्लोस मार्टिनेज- क्या ऐसा कुछ है जिससे हम पश्चिम के लोग सीरिया का अधिक प्रभावशाली तरीके से सहयोग कर सकें तथा खूनखराबे और विनाश को आगे बढ़ने से रोक सकें।

इस्सा चाएर-- मैं सोचता हूँ कि संघर्ष को भड़कानेवाले मुख्य कारक कुछ मीडिया स्टेशन हैं और सबसे बढ़िया काम जो हम कर सकते हैं, वह है सीरिया की उस बहुसंख्यक जनता के लिए एक अभियान चलायें जिसकी चीख-पुकार और तकलीफें पश्चिमी अन्तरराष्ट्रीय मीडिया की रिपोर्टों में नहीं आती और जिसकी मुख्य आकांक्षा है- शान्ति और सामान्य परिस्थितियों की बहाली। मैं यह भी सोचता हूँ कि मीडिया स्टेशन पर पक्षपात न करने तथा अप्रमाणित किस्से-कहानियों और आँकड़ों की रिपोर्टिंग न करने के लिए दबाव बनाना जरूरी है।

साम्राज्यवाद एक कागजी बाघ है! यह इतिहास का सबक है!!

सीरिया की घेराबन्दी, पेरिस पर हमला और साम्राज्यवादी कुचक्र

-विक्रम प्रताप

13 नवम्बर 2015, पेरिस के बेक्तेक्ला म्यूजिक कंसर्ट हॉल में लोग संगीत का आनन्द उठा रहे थे। लोगों को दूर-दूर तक कोई अन्देशा नहीं था कि कुछ ही देर में उनके ऊपर एक भयावह हमला होनेवाला है। उस कंसर्ट हॉल के अलावा पेरिस की कई अन्य जगहों पर हमले किये गये। अब स्वर्ग भी सुरक्षित नहीं रहा। इस हमले में 129 लोगों की मौत हो गयी और हजारों लोग घायल हुए। इससे पूरा फ्रांस दहल उठा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद फ्रांस पर यह अब तक का सबसे बड़ा हमला है। पश्चिमी मीडिया ने इस्लामिक स्टेट (आईएसआईएस) के लड़ाकों को इस हमले का जिम्मेदार बताया। लगभग सभी देशों की सरकारों ने इस दुखद और दिल दहला देनेवाली घटना की निन्दा की और हमलावरों को सबक सिखाने की कसमें खायी। बेगुनाह और निहत्थे लोगों की बर्बर हत्या की इस घटना को किसी भी तरह जायज नहीं ठहराया जा सकता, इसकी जितनी भर्त्सना की जाय कम है। लेकिन बेगुनाह लोगों की हत्या के लिए क्या सहानुभूति की यही लहर उस समय उठी थी जब अमरीका बम बरसाकर इराक के लाखों निहत्थे लोगों को मौत के घाट उतार रहा था? उस समय क्या किसी ने हमलावर अमरीका को सबक सिखाने की बात सोची थी? जब तक दुनिया में न्याय का दोहरा मानदण्ड रहेगा, क्या सही अर्थों में न्याय हो पायेगा? पेरिस हमले की जड़ और उसका असली गुनहगार कौन है? मध्यपूर्व एशिया में साम्राज्यवादी देशों की कौन-सी चीज दाँव पर लगी है? इन सब सवालों के जवाब तलाशने जरूरी हैं।

पेरिस हमले के बाद दुनिया एक नये तरह की हलचल से रूबरू हो रही है। यूक्रेन ने रूसी विमानों के लिए अपना हवाई मार्ग बन्द कर दिया है। इससे पहले रूस ने यूक्रेन को गैस की खेप बन्द करने की धमकी दी थी। 1990 के दशक के बाल्कन युद्ध के बाद इस इलाके में एक बार फिर संकट बहुत गहरा गया है। इससे पहले भी यूक्रेन और रूस के रिश्ते बहुत तल्ख चल रहे थे। उधर रूस ने तय किया है कि सीरिया की असद सरकार की मदद के लिए वह हमेमिम एयर बेस पर अपनी एस-400 एंटी एयर क्राफ्ट मिसाइल तैनात करेगा। यह कदम रूस ने तुर्की के उस हमले के जवाब में उठाया, जिसमें तुर्की ने रूस के एसयू-24 लड़ाकू बमवर्षक विमान को मार गिराया था। इसके चलते रूस और तुर्की की सीमा पर नागरिकों का आवागमन रुक गया है। इस इलाके में रूसी विमान का मार गिराया जाना एक गहरे संकट का संकेत दे रहा है। वह भी ऐसे समय जब पेरिस पर आतंकी हमले के बाद कई देशों ने आईएसआईएस के खिलाफ कार्रवाई की बात कही हो, जबकि रूस पहले से ही आईएसआईएस के विरुद्ध सीरिया की असद सरकार की मदद कर रहा है। तुर्की का यह आरोप भी गले नहीं उतरता कि रूसी विमान उसके हवाई क्षेत्र का अतिक्रमण कर रहा था, इसलिए मार गिराया गया। हवाई क्षेत्र का अतिक्रमण कोई अपवाद नहीं है। तुर्की के विमान खुद कई देशों के हवाई क्षेत्र में अवैध प्रवेश करते रहते हैं। आसमान में खेतों की तरह मेड़बन्दी तो होती नहीं, विमान एक-दो किलोमीटर अन्दर भटक सकता है। तुर्की ने बिना चेतावनी दिये रूसी विमान को मार गिराया, जाहिर है कि वह आईएसआईएस के खिलाफ नहीं बल्कि सीरिया की असद सरकार और रूस के

खिलाफ है। तुर्की वास्तव में अमरीका और ब्रिटेन के गठबन्धन में शामिल है जो रूस और सीरिया के खिलाफ है। वह नाटो का भी सदस्य है। यही इस पूरे घटनाक्रम को समझने का सूत्र है। अन्तरराष्ट्रीय दबाव के चलते तुर्की आईएसआईएस के खिलाफ कार्रवाई के लिए राजी तो हो गया, लेकिन उसका असली निशाना सीरिया की सरकार है। पिछले साढ़े चार सालों से सीरिया विद्रोहियों के लिए तुर्की एक सुरक्षा कवच जैसा है। वह सीरिया से लगनेवाली अपनी सीमा को बन्द नहीं करता, जिसका फायदा उठाकर विद्रोही इस रास्ते का इस्तेमाल सीरियाई सैनिकों से बचने के लिए करते हैं। तुर्की पर यह भी आरोप है कि वह आईएसआईएस को तेल की आपूर्ति करता है और उसे धन जुटाने में मदद भी करता है। साथ ही, उसके विमानों ने विरोधियों के ऊपर बम नहीं बरसाये बल्कि उन कुर्द लड़ाकों को निशाना बनाया जो सीरिया में आईएसआईएस के खिलाफ लड़ रहे हैं।

पश्चिमी मीडिया की खबरों के अनुसार इस साल आईएसआईएस ने मिस्र, लीबिया, यमन, ट्यूनीशिया, तुर्की, लेबनान और फ्रांस में कुल मिलाकर 16 हमले किये हैं, जिनमें 900 से अधिक लोगों की जानें जा चुकी है। मीडिया ऐसी खबरें भी उछाल रहा है जिसमें रूस, फ्रांस, अमरीका और ब्रिटेन आईएसआईएस के ठिकानों पर विमानों से बमबारी करके उसे नष्ट करने में जुट गये हैं। आईएसआईएस आतंकवादियों को मिटाने के नाम पर सीरिया पर हवाई हमले करना एक कायराना कार्रवाई है। ये साम्राज्यवादी देश बहुत ही शातिर हैं। वे चाहते हैं- चित भी मेरी, पट भी मेरी। आईएसआईएस पर कार्रवाई के नाम पर सीरिया के नागरिकों को निशाना बनाया जा रहा है। ऊपर आसमान में हवाई जहाज या हेलीकोप्टर में उड़ते हुए आप कैसे पहचानेंगे कि कौन आतंकी है और कौन आम नागरिक? क्या आतंकी खुलेआम अपने ऊपर नेमप्लेट चिपकाकर घूमेंगे ताकि ब्रिटेन के लड़ाकू विमान उन्हें निशाना बनायें? यह बात भी हजम नहीं होती कि विमान आतंकवादियों के ठिकानों को तबाह कर रहे हैं। दरअसल उनका मकसद यह है भी नहीं। इस इलाके में अमरीका और ब्रिटेन के मंसूबे हम तभी समझ सकते हैं जब हमें उस इलाके में भौगोलिक ध्रुवीकरण की सही जानकारी हो। आईएसआईएस सीरिया को तोड़ने का काम कर रहा है। यह अमरीका का प्रोजेक्ट है। सीरिया एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है जहाँ सबको अपने मत, विचार, धर्म और संस्कृति मानने की आजादी है, राष्ट्र को बहुसंख्यक लोगों के धर्म के हिसाब से चलाना, अल्पसंख्यकों पर हमले करना और उपद्रवियों-आतंकवादियों के हाथों में हथियार देने से सीरिया टूटेगा ही और अमरीकी सरकार यही चाहती है। इसके लिए वह लम्बे समय से प्रयास भी कर रही है। संविधान का खुलेआम अपमान करना, आईएसआईएस की खास रणनीति है। फ्रांस में हमले के बाद इनकी असलियत दुनिया के सामने आ गयी है। यह भी किसी से छुपा नहीं है कि आईएसआईएस को अमरीका और ब्रिटेन ने ही खड़ा किया है और उसके ऊपर सउदी, कतर, बहरीन और तुर्की के हाथ हैं। वे समझते हैं कि सीरिया के टुकड़े करने के बाद ये इरान को झुका सकेंगे। इसी रणनीति को लेकर वे पूरे इलाके में काम कर रहे हैं।

साम्राज्यवादी देशों की मीडिया ने मध्यपूर्व एशिया की स्थिति को नरक की तरह और साम्राज्यवादी देशों की स्थिति को स्वर्ग जैसा चित्रित किया है। इसने दुनिया के शिक्षित वर्ग में एक ऐसी चेतना का निर्माण किया है, जिसमें पाप और पुण्य की पौराणिक अवधारणा काम करती है। मध्यपूर्व के निवासी जन्मजात आतंकवादी या पापी नजर आते हैं जो समय-समय पर स्वर्ग के ऊपर धावा बोलते रहते हैं। स्वर्ग के देवताओं को यह ईश्वरीय अधिकार है कि वे अपने कुछ नागरिकों की हत्या की सजा नरक के लाखों निवासियों को दें। यही है सबसे बड़े लोकतांत्रिक देशों में न्याय की अवधारणा जो कबीलाई युग के 'खून के बदले खून' की अवधारणा से कहीं अधिक जघन्य और धूर्ततापूर्ण है। अफगानिस्तान और इराक में लाखों बेगुनाहों का खून बहानेवाले साम्राज्यवादियों की रक्त पिपाशा शान्त नहीं हुई। वे यमन और लीबिया के बाद अब सीरिया को तबाह करना चाहते हैं। इन देशों में आसमान से जितने अधिक बम बरसाये जाते हैं, शेयर बाजार उतना ही अधिक छलांग लगाता है। मानो शेयर बाजार में कारोबारी नहीं मौत के सौदागर दाँव लगाते हैं।

मध्यपूर्व के संकट ने वहाँ के निवासियों को पलायन के लिए विवश कर दिया है। दर-दर भटकते हुए लाखों शरणार्थी यूरोप पहुँच रहे हैं। रोज पाँच हजार से अधिक लोगों के आने से यूरोप में एक नया संकट पैदा हो गया है। केवल आस्ट्रिया में अब तक पाँच लाख लोग शरण ले चुके हैं। जिनमें से केवल 70 हजार लोगों ने आवास और सहारे के लिए सरकार के पास आवेदन किया है। यूरोपीय देशों के लिए समस्या खड़ी हो गयी है कि वे क्या करें? लोगों के रहने-खाने का कैसे प्रबन्ध करें? कुछ राजनेता शरणार्थियों को वापस भेज देने पर आमादा हैं। ऐसे कई सवाल सत्ता के गलियारों में बहस का मुद्दा बन गये हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के इस सबसे बड़े शरणार्थी संकट के पीछे मध्यपूर्व एशिया में अमरीका द्वारा थोपा गया युद्ध जिम्मेदार है। आज अमरीका एक ओर सीरिया में असद की सरकार के खिलाफ लड़ रहा है तो दूसरी ओर इराक में असद विरोधी आईएसआईएस के खिलाफ लड़ने का नाटक कर रहा है। इस संकट की शुरुआत 1991 में खाड़ी युद्ध से हुई थी। सद्दाम हुसैन इस इलाके में अमरीका का लठैत था। उसने अमरीका की इच्छा के विरुद्ध जाते हुए कुवैत पर कब्जा कर लिया क्योंकि अमरीकी तेल कम्पनियाँ कुवैत से इराकी तेल चुराया करती थी। जवाब में अमरीका ने इराक पर हमला कर दिया। अमरीका बहुत पहले से मध्यपूर्व के तेल क्षेत्रों पर नजरे गड़ाये बैठा था। उसे मनचाहा अवसर मिल गया। दूसरी ओर उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी सोवियत रूस टूटकर बिखर गया था। इससे अमरीका बेलगाम हो गया

और विश्व की राजनीति में अपना दबदबा कायम करने के लिए उसने खाड़ी युद्ध शुरू कर दिया। इस युद्ध के चलते इराक में हजारों लोग मारे गये और उससे कहीं अधिक लोग आर्थिक नाकेबन्दी के चलते बीमार हुए और मारे गये। इसके लिए अमरीका के ऊपर अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय में युद्ध अपराधी का मुकदमा चलाया जाना चाहिए था।

एक ध्रुवीय विश्व और अपनी चौधराहट का फायदा उठाते हुए अमरीका ने आणविक हथियारों की जाँच के लिए अपने विशेषज्ञों को बार-बार इराक भेजा और जब उसे विश्वास हो गया कि इराक के पास आणविक हथियार नहीं हैं तो उस पर चौतरफा हमला कर दिया। इस तरह उसने इराक को तबाह कर डाला। इसके बाद उसने अफगनिस्तान और लीबिया को भी रौंद दिया। इस काम में अन्य साम्राजवादी देश भी अमरीका के साथ थे लेकिन तेल की लूट का उनका मंसूबा पूरा नहीं हुआ। इराक और अफगानिस्तान की जनता ने अमरीकी घुसपैठ के खिलाफ बहादुराना संघर्ष किया। इससे अमरीका की हिम्मत पस्त हो गयी और उसे हारकर वहाँ से भागना पड़ा।

हार से सबक लेते हुए अमरीका ने सीरिया पर सीधे हमला करने के बजाय सरकार के विरोधियों को हथियार उपलब्ध करवाये, क्योंकि सीरिया की असद सरकार साम्राज्यवाद विरोधी और धर्मनिरपेक्ष है और इस इलाके में अमरीका की राह का सबसे बड़ा रोड़ा है। सरकार विरोधियों में शामिल आईएसआईएस गुट ने अमरीकी मदद से अपनी सत्ता का सुदृढ़ीकरण किया और सीरिया व इराक के बड़े हिस्से पर कब्जा कर लिया। वह इन देशों की स्थिरता के लिए खतरा बन गया है। लेकिन सीरियाई सरकार को झुकाने के लिए साम्राज्यवादी देशों द्वारा लगायी गयी आर्थिक नाकेबन्दी सीरिया की जनता की दुःख और तकलीफें बढ़ायेगी। यह कदम कूटनीतिक चाल नहीं बल्कि इनसानियत के खिलाफ जघन्य अपराध है। अमरीका ने सीरिया के ऊपर हवाई हमले तेज करने का संकल्प दुहराया है। उसका निशाना आईएसआईएस नहीं है बल्कि सीरिया की सरकार और देश में शान्ति बहाल करनेवाली सरकार समर्थक जनता है। वह जमीनी हमला करने से डरता है। उसे इराक और अफगानिस्तान में मिली शर्मनाक हार का भूत सता रहा है। मध्यपूर्व में अमरीकी रणनीति पूरी तरह असफल हो गयी है और उसे अपनी इज्जत बचाना भारी पड़ रहा है। बिडम्बना यह है कि उसने जिस भस्मासुर को पैदा किया था वह अब खुद उसी को भस्म करने की ओर बढ़ने लगा है।

जब तक साम्राज्यवाद रहेगा और उसके मानवद्रोही मंसूबों के चलते ऐसे भस्मासुर पैदा होते रहेंगे, तब तक दुनिया की जनता शान्ति से नहीं रह सकती। जो आग मध्यपूर्व में धधक रही है, उसकी लपटों से साम्राज्यवादियों का नंदन-कानन भी सुरक्षित नहीं रह पायेगा।

पृष्ठ 48 का शेष--

तुर्की अब तक आतंकवाद की आग से महफूज था। लेकिन सीरिया के संकट के बाद उसने जिस तरह आतंकवादियों से साँठगाँठ की। वह आनेवाले दिनों में तुर्की की आम जनता के लिए एक महाविपदा का कारण बनेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

तुर्की का इतिहास बेहद समृद्धशाली रहा है। यह बैजन्ती और ऑटोमन साम्राज्य के उत्थान और पतन का साक्षी रहा है। इस समृद्ध अतीत की जमीन पर मुस्तफा कमाल पाशा ने तुर्की की जो आधुनिक इमारत खड़ी की थी उसके आगे से इस देश में एक खुशहाल और गौरवशाली भविष्य की ओर बढ़ने की पूरी सम्भावनाएँ मौजूद थी। लेकिन पूँजीपति वर्ग को ऐसी जिन्दगी और भविष्य की कहाँ जरूरत होती है? मुनाफे की हवस, विस्तारवाद, युद्ध और विनाश के बिना वह अब तक कहाँ जी पाया? तभी तो उसने तुर्की की कमान ऑटोमन की टोपी पहने एक बौने मजहबी तानाशाह के हाथों सौंप रखी है।

फक्कड़ कवि रमाशंकर विद्रोही नहीं रहे। उनकी सबसे बड़ी खासियत यही थी कि जिस आत्मोन्नति और महत्त्वाकांक्षा को लेकर प्रतिभाशाली लोग देश के सर्वश्रेष्ठ आकादमिक संस्थानों में पदार्पण करते हैं उसे नकारते हुए वे अपनी शर्तों पर फक्कड़ और सधुक्कड़ी की जिन्दगी जिये और 'जस की तस' चदरिया को धर के चले गये। दिल से याद करते हुए उनकी एक कविता--

मैं भी मरूँगा
और भारत के भाग्य विधाता भी मरेंगे
लेकिन मैं चाहता हूँ
कि पहले जन-गण-मन अधिनायक मरें
फिर भारत भाग्य विधाता मरें
फिर साधू के काका मरें
यानी सारे बड़े-बड़े लोग पहले मर लें
फिर मैं मरूँ-- आराम से
उधर चलकर वसन्त ऋतु में
जब दानों में दूध और आमों में बौर आ जाता है
या फिर तब जब महुवा चूने लगता है
या फिर तब जब वनबेला फूलती है
नदी किनारे मेरी चिता दहककर महके
और मित्र सब करें दिलग्गी
कि ये विद्रोही भी क्या तगड़ा कवि था
कि सारे बड़े-बड़े लोगों को मारकर
तब मरा।

तुर्की : मध्यपूर्व में साम्राज्यवाद का नया चेहरा

-आनन्द किशोर

कहते हैं जब-जब कोई देश आर्थिक मन्दी के दुश्चक्र में फँसता है, तब-तब वहाँ के शासकों की राजनीति दक्षिणपन्थ की ओर अधिक मुड़ती जाती है। यूरोपीय संघ में शामिल होने के लिए बेताब तुर्की की हालिया राजनीति भी इस बात की पुष्टि कर रही है। इस राजनीति को आज तुर्की में तीखे होते सामाजिक संघर्ष और मध्य-पूर्व क्षेत्र में चल रहे महाशक्तियों की गलाकाटू होड़ मिलकर गति दे रही हैं।

तुर्की में पहली नवम्बर को सम्पन्न हुए राष्ट्रपति चुनाव में सत्तारूढ़ सुन्नी इस्लामिक फ्रीडम एण्ड जस्टिस पार्टी (एकेपी) के उम्मीदवार रिसेप तेईप एरडोगन ने फिर से बहुमत हासिल कर लिया। एरडोगन ने इसे ''लोकतंत्र की जीत'' बताया, जबकि जमीनी हकीकत यह बताती है कि चुनाव नतीजे ने समाज में निरंकुशता के पंजे को और अधिक मजबूत किया। इस नतीजे ने इस रुझान को भी रेखांकित किया कि कैसे संसद के माध्यम से निरंकुश और फासीवादी प्रवृत्तियाँ आज पूरी दुनिया में एक बार फिर पैर जमाने लगी हैं।

एरडोगन की इस ''लोकतंत्र की जीत'' की प्रकिया गौर करने के काबिल है। 7 जून 2015 को तुर्की में आम चुनाव सम्पन्न हुआ। अपनी आर्थिक नीतियों और तानाशाही प्रवृत्तियों के कारण लगातार अप्रिय बनती एकेपी चुनाव के बाद अल्पमत में आ गयी। लेकिन चुनाव नतीजे में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इसमें 2013 में बनी पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (एचडीपी) को 13.2 प्रतिशत मत हासिल हुआ, जिससे कि यह पार्टी 550 सीटोंवाली संसद में अपने 80 सांसदों को भेज सकती थी। यहाँ ध्यान में रखनेवाली बात है कि तुर्की के शासकों ने सत्ता पर अपनी पकड़ बनाये रखने के लिए एक ऐसा संवैधानिक कानून बना रखा है जिसके तहत चुनाव में 10 प्रतिशत से कम मत हासिल करनेवाली पार्टी को संसद में प्रतिनिधित्व का मौका नहीं मिलेगा। कुर्दों और वामपन्थियों द्वारा समर्थित पार्टी एचडीपी के लिए 10 प्रतिशत की लक्ष्मणरेखा को पार कर जाना एरडोगन और तुर्की के शासक तबके लिए सबसे चिन्ताजनक बात थी।

एरडोगन की चिन्ता को ठीक से समझने के लिए तुर्की की 'कुर्द समस्या' की थोड़ी जानकारी जरूरी है। तुर्कों की तरह ही कुर्द एक भिन्न राष्ट्रीयता वाले लोग हैं जो तुर्की, इराक, सीरिया और ईरान में बसे हुए हैं तथा सैंकड़ों सालों से स्वतन्त्र कुर्दिस्तान के लिए संघर्षरत हैं। तुर्की में आबादी का लगभग 20 प्रतिशत हिस्सा कुर्द लोगों का है लेकिन देश में उनकी राष्ट्रीय अस्मिता को स्वीकार नहीं किया जाता और इसी कारण वे भयानक दमन-उत्पीड़न के शिकार हैं। अब से कुछ ही वर्षों पहले तक उन्हें अपनी भाषा लिखने या बोलने का भी हक नहीं था। कुर्द जनता अपनी आजादी के लिए कुर्दिस्तान वर्कर्स पार्टी (पीकेके) के नेतृत्व में 1984 से हथियारबन्द संघर्ष चला रही है जिसमें अब तक उनके 40 हजार लोग मारे जा चुके हैं। वर्ष 2013 में कुर्द लोगों ने तुर्की के अन्य अल्पसंख्यक समूहों, उत्पीड़ितों और क्रान्तिकारियों के साथ मिलकर एचडीपी का गठन किया और शासकों के सामने अपनी व्यापक माँगें पेश की।

पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (एचडीपी) अपने बारे में कहती है कि ''हम सब, तुर्की के लोकतांत्रिक व शान्तिप्रिय ताकतें, श्रमिक वर्ग के प्रतिनिधि, पर्यावरण एवं नारी अधिकारों के लिए संघर्षरत संगठन, कलाकार, लेखक, बुद्धिजीवी, स्वतंत्र व्यक्ति एवं मजदूर जन, विभिन्न जनजातियों व धार्मिक समूहों के प्रतिनिधिगण, बेरोजगार, रिटायर्ड, किसान, विकलांग, वैज्ञानिक और वे सब लोग जिनके शहरों को बर्बाद कर दिया गया है, इस मंच में एकजुट हुए हैं।''

बहरहाल, एरडोगन ने जून चुनाव के फैसले को मन से नहीं स्वीकारा, क्योंकि उसकी मंशा चुनाव में पूर्ण बहुमत लाकर संविधान संशोधन के जरिये देश में राष्ट्रपति प्रणाली का शासन लागू करने की थी, ताकि उसकी निरंकुशता को कानूनी रूप मिल सके। देश की सेना, नौकरशाही, अमीर तबका, इस्लामिक संगठन, अमरीका व यूरोप आदि ताकतों का उसे समर्थन और सहयोग मिला हुआ था। इसी नापाक गठजोड़ और बुरी नीयत के साथ एरडोगन ने 1 नवम्बर के दिन पुनःमतदान कराने का फैसला किया।

छद्म वामपन्थी हो या धुर दक्षिणपन्थी, दोनों का एक सामान्य चरित्र होता है, वे अपनी असली मंशा (हिडेन एजेन्डे) को जनता के सामने एकबारगी प्रकट नहीं करते। 2001 में जब एकेपी का गठन हुआ था, तब उसने अपनी इस्लामवादी विचारधारा को आधिकारिक तौर पर त्यागकर ''तुर्की में लोकतंत्र को बढ़ावा देने'' और कुर्द समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान के प्रयास की बात कही। एकेपी और उसके नेता एरडोगन की इन घोषणाओं को जनता ने सकारात्मक रूप से लिया और उसे पूर्ण

समर्थन दिया। लेकिन सत्ता सम्भालते ही उसने डंडे के बल पर ताबड़तोड़ नवउदारवादी आर्थिक नीतियाँ लागू करना शुरू कर दिया। उसकी इन्हीं नीतियों के खिलाफ 2013 में 'गेजी पार्क' की घटना घटी, जिसमें राजधानी अंकारा के दसियों हजार लोग विरोधस्वरूप उस समय सड़कों पर उतर आये, जब एरडोगन ने अपने 'विकास के मॉडल' को लागू करने के सिलसिले में 'गेजी पार्क' को ढहाने की कोशिश की और जनता ने पार्क को कई दिनों तक अपने कब्जे में रखा। आखिरकार लोगों के आन्दोलन को पुलिस दमन के सहारे कुचल दिया गया।

इसके बाद जून 2015 में देश में आम चुनाव हुआ जिसमें एकेपी को मुँह की खानी पड़ी। सत्ता पर अपनी पकड़ हर हाल में बनाये रखने के लिए एरडोगन ने लोकतन्त्र के झीने पर्दे को भी उतार फेंका और अपना फासीवादी चेहरा खुलकर दिखा दिया। सबसे पहले उसने कुर्दों के साथ चल रही शान्ति वार्ता को रोक दिया और उनके इलाके में बमबारी शुरू कर दी। इसके साथ-साथ, एचडीपी व वामपन्थियों पर भी उसने बड़े पैमाने पर हमला बोल दिया। इस दौरान उनके कार्यकर्ताओं की धरपकड़ करना, हत्या करना, उनकी दो जनसभाओं में आतंकवादियों से आत्मघाती हमले करवाना जिनमें करीब दो सौ लोग मारे गये और एचडीपी के 400 कार्यालयों को जलाने जैसी कार्रवाइयाँ हुईं। इसका एकमात्र मकसद था एचडीपी के चुनाव प्रचार में बाधा पहुँचाना और उसके वोटरों को डराना। इसके अलावा, जमीन से जुड़े जनता के नुमाइन्दों को बड़े पैमाने पर रिश्वत दी गयी तथा मीडिया द्वारा तुर्की राष्ट्रवाद को खूब हवा दी गयी। इन सब हथकन्डों के चलते एरडोगन अन्ततः अपने मकसद में कामयाब हुआ- चुनाव में एचडीपी का मत घटकर 10.8 प्रतिशत रह गया और एकेपी को बहुमत मिला।

हालाँकि एरडोगन की तमाम बाधाओं के बावजूद एचडीपी संसद में पहुँच तो गयी, लेकिन उसका आगे का रास्ता आसान नहीं है।

एचडीपी अपने घोषणा पत्र में शान्ति, आजादी और बराबरी की बात कहती है। वह खुद को बेरोजगारी और पूँजीवादी-साम्राज्यवादी लूट और शोषण का विरोधी कहती है। एक ऐसे रैडिकल एजेन्डे के साथ क्या कोई प्रगतिशील ताकत संसदीय रास्तों से सत्ता प्राप्त कर सकती है? या अगर किसी तरह सत्ता में पहुँच भी जाये तो क्या उसे कायम रख सकती है? ऐसे वक्त पर जब प्रतिपक्षी वर्ग पूँजी और हथियारों से पूरी तरह लैस है और अपनी सत्ता कायम रखने के लिए खून की नदियाँ बहा रहा है, तब उससे लड़ने का समुचित तौर-तरीका क्या हो? पिछली सदी के सत्तर के दशक में चिली में अलेन्दे के साथ जो कुछ घटा और अभी हाल ही में यूनान में सिराजा का जो हश्र हुआ, वह दुनिया की जनता के लिए क्या सबक देता है? ये सब कुछ ऐसे जरूरी सवाल हैं जिस पर एचडीपी को समाज के सामने अभी एक स्पष्ट रुख रखना पड़ेगा।

हालाँकि यह सवाल सिर्फ एचडीपी या तुर्की की जनता के ही नहीं, बल्कि दुनिया के ज्यादातर देशों की जनता के सामने है, क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था अपने आन्तरिक कारणों से आज भयानक संकट की गिरफ्त में है। अपने अस्तित्त्व की रक्षा के लिए आज वह जनता को न्यूनतम लोकतांत्रिक अधिकार भी देना नहीं चाहती। इसलिए दुनिया के ज्यादातर देशों की सरकारें जनता के हर जायज आन्दोलन को कुचलने के लिए चरम फासीवादी तरीकों का सहारा लेने से भी गुरेज नहीं कर रही हैं।

समस्या सिर्फ जनता के सामने ही नहीं, बल्कि धर्म और पूँजीवाद के सहारे सम्राट बनने का ख्वाब पालनेवाले एरडोगन जैसे शासकों के सामने भी है। तुर्की का पूँजीपति वर्ग और उसका वर्तमान नेता एरडोगन अपनी नीतियों के कारण देश को किन खतरों की ओर ले जा रहा है इसका पूरा अन्दाजा तभी लग सकता है जब हम उस क्षेत्र में चल रही राजनीति और उसमें तुर्की की भूमिका को ध्यान में रखें।

तुर्की की भौगोलिक अवस्थिति भी उसकी राजनीति को दिशा देने में भूमिका निभाती रही है। इसके उत्तर में काला सागर है जिसके एक किनारे पर रूस बसा हुआ है। दक्षिण में भूमध्य सागर है जिसके तटों पर मिस्र, लीबिया, अल्जीरिया, स्पेन, फ्रांस, इटली और यूनान आदि देश हैं, जबकि इसके पूर्व से दक्षिण-पूर्व सीमा में पूर्वी यूरोप के देश, ईरान, इराक और सीरिया हैं। तुर्की के सबसे बड़ा शहर- इस्तामबुल, जिसे इतिहास में कुस्तुन्तुनिया के नाम से जाना जाता था, उसका बड़ा हिस्सा यूरोपीय भूखण्ड में है, जबकि शेष तुर्की एशियाई भूखण्ड में।

1923 में तुर्की गणराज्य की स्थापना से पहले यह ऑटोमन साम्राज्य था, जिसका एक जमाने में एशिया व यूरोप के बड़े भू-भाग में कब्जा हुआ करता था। इसका पहला राष्ट्रपति, मुस्तफा कमाल पाशा, एक प्रखर राष्ट्रवादी था। इसलिए वह अपने जीवन काल में देश को एक आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाने और व्यापक पूँजीवादी विकास करने में लगा रहा तथा पश्चिमी देशों के खिलाफ तत्कालीन सोवियत संघ के साथ उसने संश्रय कायम किया। 1938 में कमाल पाशा के निधन के बाद तुर्की ने अपना रुख बदला। अब तक तुर्की पूँजीवाद के रास्ते काफी आगे बढ़ चुका था और उसकी विदेश नीति भी पूँजी के तर्क के अनुसार बनने लगी थी। अमरीकी खेमे में शामिल होने का फैसला उसके इसी तर्क की परिणति था।

द्वितीय विश्व युद्ध की शुरुआत में तुर्की ने तटस्थ रुख अपनाया पर अन्तिम चरण में उसने मित्र राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में हिस्सा लिया। 1952 में उसे अमरीकी नेतृत्त्ववाले सैन्य गठबन्धन नाटो में शामिल कर लिया गया। 1953 में अमरीका का पूरी तरह पिछलग्गू बनते हुए उसने कोरिया युद्ध में भी शिरकत की। 1956 में अमरीका और सोवियत खेमे के बीच शीत युद्ध छिड़ जाने के बाद अमरीका के एक विश्वस्त दास की तरह सोवियत संघ के पीछे पड़ा रहा। इतना ही नहीं, मध्य-पूर्व के इलाके में फिलिस्तीन की आजादी को रोकने के लिए और उस क्षेत्र में अमरीकी हितों को साधने के लिए उसने सऊदी अरब और मिस्र की तरह एक अमरीकी चौकी की भूमिका निभायी।

तुर्की के शासक वर्ग के इस जनविरोधी चरित्र के बावजूद वह अभी तक इस्लामिक ताकतों से कोई साँठगाँठ नहीं करता था, बल्कि उसका दमन भी करता था। वहाँ के शासन का मुख्य स्तम्भ- वहाँ की सेना, जिसे कमाल पाशा ने निःसन्देह एक धर्मनिरपेक्ष बल बनाया था, उसने इस मामले में कोई चूक नहीं की। लेकिन 1991 में सोवियत संघ के पतन के बाद जब देश में आर्थिक संकट गहराया और सेना की निरंकुशता के खिलाफ लोगों में असन्तोष बढ़ा, तो राजनीतिक खालीपन को भरने के लिए इस्लामिक ताकतें एकजुट होने लगीं। एरडोगन की एकेपी का जन्म इसी प्रक्रिया में होता है।

एरडोगन ऑटोमन शासकों की तरह मजहबी साम्राज्य कायम करने की मंशा रखता है। वैसे भी, किसी पूँजीवादी शासक में विस्तारवादी और साम्राज्यवादी मंशा निहित होना आम बात है। लेकिन इस रास्ते में उसकी पहली बाधा कमाल पाशा की बनायी धर्मनिरपेक्ष सेना थी। इसलिए सत्ता सम्भालने के अगले बारह साल के अन्दर यानी 2012 तक उसने जन असन्तोष का फायदा उठाकर सेना को अपने काबू में कर लिया। आज सेना के सैंकड़ों भूतपूर्व जनरल जेल के अन्दर हैं और मौजूदा सेना एकेपी की हाँ में हाँ मिलाती है। उधर 2011 में अरब का जनान्दोलन फूट चुका था। इस सिलसिले में जब मिस्र में राष्ट्रपति मुबारक के पतन के बाद मुहम्मद मुर्सी के नेतृत्त्व में मुस्लिम ब्रदरहुड की सरकार बनी तो एरडोगन ने व्यापक इस्लामिक एकता कायम करने के कुटिल इरादे से उसका समर्थन किया। हालाँकि एरडोगन का मंसूबा धरा रह गया क्योंकि जल्दि ही मिस्र की सेना ने तीन-तिकड़म से मुस्लिम ब्रदरहुड का पत्ता साफ कर दिया।

लेकिन एरडोगन की वास्तविक चुनौती तब पैदा होती है जब अरब जनान्दोलन की आँच उसके सीमापार सीरिया पहुँचती है। उस जनान्दोलन की आँच उस इराक में भी पहुँची थी जिसे अमरीका ने पूरी तरह तबाह कर दिया था। फिर भी इराक की सुन्नी आबादी हजारों की तादाद में खण्डहरों से निकलकर आयी और लोकतान्त्रिक ढंग से सरकार के आगे अपनी माँगें पेश की। लेकिन वहाँ की शिया सरकार ने उस आन्दोलन को बुरी तरह कुचल दिया। यह सुन्नी जन समुदाय के लिए हताशा की इन्तहा थी। बर्बादी और नाउम्मीदी के इसी भयानक माहौल से इस्लामिक स्टेट का राक्षस पैदा हुआ।

बहरहाल, सीरिया के राष्ट्रपति असद के खिलाफ जनता के आन्दोलन ने अमरीका को जैसे मौका दे दिया। क्योंकि सीरिया सोवियत संघ के जमाने से रूस का साथी है। अपने देश से बाहर रूस का एकमात्र सैनिक अड्डा सीरिया में ही है। सीरिया की ईरान के साथ भी एकता बहुत घनिष्ट है। अमरीका ने एक तीर से दो निशाना साधना चाहा। उसकी इस्लामिक स्टेट (आईएस) से लड़ने में कोई दिलचस्पी नहीं थी। 'आतंकवाद के खिलाफ युद्ध' के नाम पर अमरीका ने असद के खिलाफ लड़नेवाले अलकायदा के आतंकवादियों समेत किसी भी ताकत को हथियार और धन दिया। इस तरह सीरिया, अमरीका व रूस की परोक्ष लड़ाई का अखाड़ा बन गया। हालाँकि इसमें अमरीका को अब तक कोई सफलता हाथ नहीं लगी।

इस गृहयुद्ध में असद की सरकार के कमजोर हो जाने से सीरियाई कुर्दों को लाभ ही मिला। उन्होंने रोजोवा इलाके में अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम कर ली और आईएस के हमलों के खिलाफ बहादुराना लड़ाई लड़कर उन्हें खदेड़ दिया। सीरिया का टुकड़ा हासिल करने की होड़ में एरडोगन भी शामिल हो चुका था। इस्लामिक स्टेट के आतंकवादियों से उसने गुप्त सम्बन्ध बना लिया। आतंकवादियों को हथियार और धन देना, उनसे व्यापार करना और तुर्की के रास्ते से सीरिया में घुसने का रास्ता देना आदि वह धड़ल्ले से चलाता रहा। उसका इरादा अमरीका की मदद से उत्तरी सीरिया के एक बड़े भू-भाग पर अपने प्रभाववाला विशेष क्षेत्र बनाने का है। इसके जरिये सीरियाई कुर्दों को भी स्वतन्त्र राज्य बनने से रोकने की उसकी योजना है। इसी मकसद से उस क्षेत्र में बसी उस तुर्कमानी आबादी को हथियारों की भारी सप्लाई की जा रही है, जिसका पीढ़ियों से तुर्की के साथ सम्बन्ध है।

उधर रूस एरडोगन की चाल को समझ चुका था। इसलिए उसने 'आतंकवाद के खिलाफ युद्ध' के नाम पर उसी इलाके में बमबारी जारी रखी। हाल ही में रूस के एक लड़ाकू विमान को मार गिराकर एरडोगन ने पुतिन को ऐसा न करने के लिए परोक्ष रूप से चेताया। हालाँकि एरडोगन का दाँव उलटा पड़ा। रूस ने और भी आक्रामक होकर उस क्षेत्र में अपना पाँव जमा लिया। एरडोगन के दुस्साहस का रूस ने अपने दूरगामी हित को देखते हुए कोई सीधा जवाब नहीं दिया पर उसने ईरान व इराक के साथ मिलकर तुर्की की आर्थिक व रणनीतिक घेरेबन्दी का काम शुरू कर दिया है।

नाटो के देश अपनी साम्राज्यवादी योजना को लागू करने के लिए तुर्की का इस्तेमाल तो करते हैं पर उनमें से कोई भी एरडोगन की विस्तारवादी या मजहबी महत्त्वांकाक्षा का समर्थन नहीं करता। इसके अलावा, दुनिया की आर्थिक मन्दी गहराने के साथ-साथ रूस-चीन के साथ उनके युद्ध की परिस्थितियाँ लगातार तैयार होती जा रही हैं, लेकिन मौजूदा समय में यूरोप का कोई भी देश रूस के साथ युद्ध नहीं चाहता है। वैसे भी दो-दो विश्व युद्ध को झेलने के बाद यूरोप अपनी धरती पर तीसरा युद्ध नहीं चाहता है। इस तरह हर हाल में तुर्की के अपने विस्तारवादी अभियान में अलगाव में पड़ने की सम्भावना ज्यादा है।

इधर, घरेलू मोर्चे में भी एरडोगन ने विध्वंस को न्योता दे रखा है। इस्लामिक आतंकवाद के नाम पर जिन-जिन देशों ने भी अब तक मुस्लिम जनता के जीवन को नर्क बनाया या अपने फायदे के लिए आतंकवाद को बढ़ावा दिया और इस्तेमाल किया उन सबके घर आज वह आग पहुँच चुकी है। इस भस्मासुर के खौफ से आज वे सभी सहमे हुए हैं लेकिन विडम्बना यह कि इसे रोकने का उनके पास कोई चारा भी नहीं है।

--शेष पृष्ठ 45 पर

निजी और सार्वजनिक कम्पनियों का नापाक गठबन्धन

--ललित कुमार

बेरोजगारी का दंश झेल रहे एक नौजवान को एक एलईडी बल्ब मार्केटिंग कम्पनी ने साक्षात्कार के बाद नौकरी पर रख लिया। उसके काम का इलाका रामपुर, हिमाचल प्रदेश था। वेतन कम था लेकिन उसने सोचा कि बेरोजगार रहने से कुछ काम करना बेहतर है। उसे नौकरी का अनुभव और हिमाचल के खूबसूरत पहाड़ों में घूमने का मौका मिलेगा। काम के दौरान उसे आश्चर्यचकित कर देनेवाली एक घटना का सामना करना पड़ा। वेबसाईट खोलकर जब उसने रामपुर इलाके में अपने कामों का ब्योरा दर्ज करना चाहा तो वह इलाका कम्पनी के वेबसाईट पर नहीं था। उसे सन्देह हुआ। जाँच-पड़ताल करने पर उसे पता चला कि कम्पनी में भारी गड़बड़ी चल रही है। कोई बड़ा घोटाला जड़ें फैला रहा है। उसने ऊपर के अधिकारियों से उसकी शिकायत की। उन्होंने उलटा उस पर ही क्षमता की कमी और लापरवाही का आरोप लगाकर उसे नौकरी से बाहर का रास्ता दिखा दिया उसने वहाँ क्या कुछ देखा-जाना इसी के बारे में यह लेख है।

कांग्रेस की पिछली सरकार नें 2009 में सार्वजनिक क्षेत्र में एनर्जी एफिसिएन्सी सर्विसेस लिमिटेड (ईईएसएल) कम्पनी की स्थापना की थी। यह एनटीपीसी, पीएफसी, आरईसी और पावर ग्रिड की संयुक्त उपक्रम वाली कम्पनी है। इस कम्पनी ने 2014 तक कोई काम नहीं किया और केवल कागजों तक ही सीमित रही। मोदी के सत्ता में आने के बाद इस कम्पनी को देश के 100 शहरों में एलईडी बल्ब लगाने और उनके वितरण का काम सौंपा गया। कम्पनी का अपना कोई आधारभूत ढाँचा नहीं है और इतना बड़ा प्रोजेक्ट पूरा कर सकने की क्षमता भी नहीं है। यह कम्पनी न तो एलईडी का उत्पादन करती है और न ही उसके पास एलईडी बल्ब लगवाने का कोई साधन ही है। इन तथ्यों को नजरअन्दाज करते हुए कम्पनी को यह काम दिया गया।

ईईएसएल कम्पनी अपना प्रोजेक्ट निजी क्षेत्र की कम्पनियों को ठेका देकर करवाती है। एलईडी बल्ब बनाने का काम ओसराम, ओरिएंट इलेक्ट्रिकल्स, सूर्या, स्टार लाइट, फिलिप्स और बजाज जैसी निजी क्षेत्र की कम्पनियाँ करती हैं। बल्बों के वितरण का काम भी निजी कम्पनियों के द्वारा कराया जाता है। बल्ब वितरण करनेवाली ये कम्पनियाँ फिर से छोटी-छोटी कम्पनियों और वेंडरों की सहायता से वितरण का काम करती हैं। उपभोक्ताओं के लिए बल्ब की कीमत 100 रुपये रखी गयी है। बल्बों का वितरण दो तरह के उपभोक्ताओं में किया जाता है- पहला घरेलू क्षेत्र के और दूसरा व्यवसायिक क्षेत्र के। सरकारी नियम में घरेलू उपभोक्ताओं को अधिकतम 10 और व्यावसायिक उपभोक्ताओं को अधिकतम 15 बल्ब दिये जाने का प्रावधान है। एक उपभोक्ता को कम से कम 5 बल्ब लेना आवश्यक है। दो बल्बों का नकद भुगतान करना पड़ता है और बाकी तीन बल्ब किस्त पर दिये जाते हैं जिनके लिए 10 रुपये प्रति बल्ब नगद भुगतान लिया जाता है। किस्तों की बकाया धनराशि उपभोक्ता के बिजली के बिल में हर महीने जोड़ दी जाती है जिसकी वसूली बिजली विभाग करता है। इसके लिए उपभोक्ता की जानकारी से सम्बन्धित दस्तावेज कम्पनी की वेबसाइट पर अपलोड किये जाते हैं। इन्हीं गणितीय जटिलताओं का फायदा उठाकर लूट को अंजाम दिया जाता है।

एलईडी मार्केटिंग कम्पनी उन उपभोक्ताओं के पैसों में धाँधली करती है जो खरीदे गये बल्बों का पूरा नकद भुगतान करते हैं। यदि कोई उपभोक्ता 5 बल्बों के पूरे 500 रुपये नकद चुका देता है तो यह कम्पनी उस उपभोक्ता को किस्तवाले उपभोक्ता में बदल देती है। 500 रुपये में से 230 रुपये की राशि को नकद और 270 रुपये की किस्त के रूप में दिखा देती है। इस तरह यह कम्पनी प्रति नकद उपभोक्ता 270 रुपये का गबन करती है। यह राशि उपभोक्ता के बिजली बिल के साथ 10 रुपये प्रतिमाह वसूली जाती है। लूट का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस कम्पनी के मैनेजर और साधारण वेंडर भी कई-कई दिनों तक प्रथम श्रेणी के पाँच सितारा होटलों में अय्यासी कर सकते हैं। इस कम्पनी में काम करनेवाले साधारण लड़के-लड़कियाँ 300 रुपये प्रति दिन के हिसाब से हिमाचल प्रदेश की हाड़ कँपा देने वाली ठंड में सुबह से शाम तक काम करते हैं। कम्पनी के भंडारण घरों को व्यवस्थित करने वाले कर्मचारियों का वेतन तो दो-दो महीनों तक रोककर रखा जाता है। कम्पनी में काम करनेवाले नौजवानों से 12 से 15 घंटे काम लिया जाता है लेकिन उनका वेतन इतना कम है कि किसी तरह से वे अपनी जिन्दगी की मूलभूत जरूरतों को पूरा कर पा रहे हैं। इस तरह कम्पनी एक तरफ नकद उपभोक्ता को किस्त उपभोक्ता में बदलकर करोड़ों का घोटाला कर रही हैं और दूसरी तरफ कम्पनी में काम करनेवाले नौजवानों का नये-नये तरीकों से शोषण करती हैं। शोषण और लूट में निजी और सरकारी कम्पनियों का यह याराना बेजोड़ है। पिछले दिनों इसी तरह के एक घोटाले

का खुलासा मुम्बई की एक पत्रिका 'सामना' ने किया था। इसमें बताया गया था कि केन्द्र की भाजपा सरकार ने एलईडी बल्ब लगाने का ठेका ईईएसएल नामक मृत कम्पनी को दिया है जिसमें करीब 25,000 कारोड़ का घोटाला हुआ है।

कांग्रेस की मनमोहन सरकार घोटालों की सरकार थी। यह सरकार भी उसी के नक्शे कदम पर चल रही है। दरअसल हमें मुखौटा देखने के बजाय अन्दर की सच्चाई जाननी चाहिए। चाहे कोई सरकार आ जाये कुछ चीजें कभी नहीं बदलती जैसे नवउदारवादी नीतियाँ जो इस दौर के घोटालों की जननी है। 1990 में नवउदारवादी नीतियों के जरिये देशी-विदेशी कम्पनियों को लूट के लिए बेलगाम छोड़ दिया गया। इन नीतियों का ही नतीजा है कि पर्यावरण के लिए फायदेमन्द एलईडी बल्ब का व्यवसाय घोटालों के हत्थे चढ़ गया है। ऐसे ही अनगिनत घोटालों और अथाह शोषण से एक तरफ मुट्ठीभर लोगों के लिए स्वर्ग का निर्माण हुआ तो दूसरी तरफ देश की बहुतायत मेहनतकश जनता कंगाली और बदहाली की गहरी खाई में धकेल दी गयी। मेहनतकश जनता का खून निचोड़कर अकूत मुनाफा कमाने वाली यह व्यवस्था ही घोटाले के केन्द्र में है। भ्रष्टाचार को जड़ से खत्म करने के लिए छात्रों, नौजवानों और उत्पीड़ितों को संगठित होकर एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना होगा जिसके केन्द्र में "मुनाफे की हवस" नहीं बल्कि "इनसान और इनसानी मूल्यों" का महत्त्व हो।

महामारी का रूप लेता बाल-यौन-शोषण

-शैलेन्द्र चौहान

वर्ष 2007 में महिला और बाल विकास मंत्रालय के द्वारा कराये गये एक अध्ययन के मुताबिक जिन बच्चों का सर्वेक्षण किया गया उनमें से 53 प्रतिशत ने कहा कि वह किसी न किसी किस्म के यौन शोषण के शिकार हुए हैं। अध्ययन से पता चला कि 5 से 12 वर्ष तक की उम्र के छोटे बच्चे शोषण और दुर्व्यवहार के सबसे अधिक शिकार होते हैं तथा इन पर खतरा भी सबसे अधिक होता है। इन शोषणों में शारीरिक, यौन और भावनात्मक शोषण शामिल होते हैं। इस अध्ययन के मुताबिक आम धारणा है कि मात्र लड़कियों का ही यौन शोषण होता है। लेकिन इसके विपरीत लड़कों पर भी बराबर खतरा रहता है। इसमें यह भी उल्लेख किया गया है कि बड़ी संख्या में शोषणकर्ता 'भरोसे के और देख-रेख करनेवाले लोग' होते हैं जिनमें अभिभावक, रिश्तेदार, स्कूल शिक्षक, घरेलू नौकर, ड्राइवर, पड़ोसी आदि शामिल हैं। अध्ययन के अनुसार हर तीन में से दो बच्चे शारीरिक शोषण के शिकार बने। शारीरिक रूप से शोषित 69 प्रतिशत बच्चों में 54.68 प्रतिशत लड़के थे। 50 प्रतिशत से अधिक बच्चे किसी न किसी प्रकार के शारीरिक शोषण के शिकार थे। 20.90 प्रतिशत बच्चों ने गम्भीर यौन शोषण का सामना करने की बात कही, जबकि 50.76 प्रतिशत बच्चों ने अन्य प्रकार के यौन शोषण की बात स्वीकारी। पारिवारिक स्थिति में शारीरिक रूप से शोषित बच्चों में 88.6 प्रतिशत का शारीरिक शोषण माता-पिता ने किया। आंध्र प्रदेश, असम, बिहार और दिल्ली से अन्य राज्यों की तुलना में सभी प्रकार के शोषणों के अधिक मामले सामने आये। 50 प्रतिशत शोषक बच्चों के जान-पहचान वाले या विश्वसनीय लोग जिम्मेवार थे। 83 प्रतिशत मामलों में माता-पिता ही शोषक थे। 48.4 प्रतिशत लड़कियों ने कहा कि वे लड़का होतीं तो अच्छा था।

दुनिया में यौन शोषण के शिकार हुए बच्चों की सबसे बड़ी संख्या भारत में है, लेकिन फिर भी यहाँ इस बारे में बात करने में हिचक दिखती है। एक चिकित्सा निदान के रूप में, बाल यौन शोषण (पेडोफिलिया) को आमतौर पर वयस्कों या बड़े उम्र के किशोरों (16 या उससे अधिक उम्र) में मानसिक विकार या विकृति के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो आमतौर पर 13 साल या उससे कम उम्र के गैर-किशोर बच्चों में विशेष यौन रूचि द्वारा प्रदर्शित होता है।

वर्ष 2012 में भारत में बच्चों को यौन-हिंसा से बचानेवाला कानून (पॉस्को) बनाया गया ताकि बाल-यौन-शोषण के मामलों से निपटा जा सके लेकिन इसके तहत पहला मामला दर्ज होने में दो साल लग गये। वर्ष 2014 में नये कानून के तहत 8904 मामले दर्ज किये गये, लेकिन उसके अलावा इसी साल नेशनल क्राइम रिकॉर्ड्स ब्यूरो ने बच्चों से बलात्कार के 13,766 मामले; बच्ची पर उसका शीलभंग करने के इरादे से हमला करने के 11,335 मामले; यौन शोषण के 4,593 मामले; बच्ची को निर्वस्त्र करने के इरादे से हमला या शक्ति प्रयोग के 711 मामले; घूरने के 88 और पीछा करने के 1,091 मामले दर्ज किये गये। ये आंकड़े बताते हैं कि बाल यौन शोषण के अधिकतर मामलों में पॉस्को लगाया ही नहीं गया।

बाल अधिकार कार्यकर्ताओं का कहना है कि यह कानून बहुत अच्छा बना है लेकिन इसके अमल और सजा दिलाने की दर में भारी अन्तर है। इस पर केवल 2.

4 प्रतिशत मामलों में ही अमल हुआ है। राही (रिकवरिंग एण्ड हीलिंग फ्रॉम इंसेस्ट) फाउंडेशन- इंसेस्ट और बाल यौन शोषण से लड़नेवाला भारत का पहला संगठन है। इसकी प्रमुख अनुजा गुप्ता कहती हैं अभिभावक सामान्यतः यौन शोषण की बात स्वीकार करने में हिचकते हैं और परिवार के सदस्यों की यौन हिंसा की बमुश्किल कभी शिकायत की जाती है। अनुजा कहती हैं कि 'खामोशी के इस षड्यंत्र' के पीड़ितों, उनके परिवारों और सम्पूर्ण समाज पर गम्भीर प्रभाव पड़ते हैं। 'ये पूरी तरह असहायता और सदमा पीड़ित को कमजोर कर देते हैं। एक बच्चे के लिए आगे आकर यह कहना बहुत मुश्किल होता है कि उसका शोषण किया गया और किसी ने कुछ नहीं किया। यह उनके लिए बहुत हानिकारक होता है।' दक्षिण भारत के कर्नाटक राज्य से एक निर्दलीय सांसद राजीव चन्द्रशेखर ने इस समस्या को एक 'महामारी' बताते हुए दिल्ली में एक 'ओपन हाउस' का आयोजन किया जिसका उद्देश्य था कि 'हम बाल यौन शोषण के बारे में बात करना शुरू करें और अपने बच्चों को बचायें।' 'बाल यौन शोषण भारत में महामारी बन चुका है। इस समस्या को गोपनीयता और इनकार की संस्कृति ने ढक रखा है और सरकारी उदासीनता से यह बढ़ी है। ज्यादातर लोग सोचते हैं कि बाल-यौन-शोषण उतने बड़े पैमाने पर नहीं है जितना मैं कह रहा हूँ, लेकिन आँकड़े मेरी बात की गवाही देते हैं।'

बैंगलुरु, दिल्ली और भारत भर में बच्चों के यौन शोषण के कई बहुचर्चित मामले सामने आये हैं- यह आश्चर्य की बात भी नहीं है क्योंकि देश में हर तीन घंटे में एक बच्चे का यौन-शोषण होता है। इन हैरान कर देनेवाले आँकड़ों के बावजूद बाल-यौन-शोषण पर बात करने की चन्द्रशेखर की कोशिशें परवान नहीं चढ़ी हैं। ट्विटर पर महीनों तक उन पर 'भारत को बदनाम करने के पश्चिमी षड़यंत्र का हिस्सा' होने का आरोप लगाया जाता रहा। उनका कहना है कि यही बाल यौन शोषण और इंसेस्ट (परिवार के अन्दर व्यभिचार) को रोकने की दिशा में सबसे बड़ी बाधा है।

ह्यूमन राइट्स वॉच की रिपोर्ट में भारत के 13 राज्यों के 12,500 बच्चों पर किये सरकारी सर्वेक्षण का हवाला दिया गया है। इस सर्वेक्षण में पाया गया कि जवाब देनेवाले आधे बच्चों ने कहा कि उन्होंने किसी न किसी प्रकार का यौन उत्पीड़न अनुभव किया है। बेहतर होगा कि अभिभावक खुद अपने बच्चों के इस अपराध के बारे में बताने की कोशिश करें। किसी भी बच्चे की पहली पाठशाला उसका घर होता है और पहली टीचर उसकी माँ होती है, इसलिए समय की माँग है कि वे साहस के साथ अपने बच्चों को इस दूषित वातावरण के बारे में समझाएँ। बच्चों को अच्छे और बुरे स्पर्श के बारे में खुलकर बताना होगा। अभिभावकों को भी अपने नादान बच्चों के आगे अपने दाम्पत्य जीवन में संयम बरतना होगा और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि आप अपने बच्चों के सबसे अच्छे दोस्त बनें। ताकि बच्चे आप से कोई भी बात छुपायें नहीं और अपने साथ हुई हर बात आपसे बेझिझक बताया करें।

बढ़ते दलित उत्पीड़न का सामाजिक-आर्थिक आधार

-सुनील कुमार

आज देश में लगातार हो रहे अत्याचार से दलित समाज में आक्रोश का माहौल है। देश में हर घंटे किसी दलित महिला से बलात्कार होता है, किसी दलित की हत्या होती है तो किसी का घर जलाया जाता है। 20 अक्टूबर को हरियाणा के एक गाँव सुनपेड़ में एक दलित परिवार के घर में पेट्रोल डालकर आग लगा दी गयी जिसमें दो मासूम बच्चों, ढाई साल के वैभव और ग्यारह महीने की दिव्या की घटनास्थल पर ही मौत हो गयी। बच्चों की माँ रेखा 70 फीसदी जल गयी जबकि पिता जितेन्द्र भी परिवार को बचाने के प्रयास में झुलस गये। इस घटना के दो दिन बाद 22 अक्टूबर को इसी राज्य के गोहाना में 15 वर्षीय दलित युवक गोविन्द की कबूतर चुराने के आरोप में पुलिस हिरासत में हत्या की जाती है और पुलिस प्रशासन इसे आत्महत्या का नाम देकर अपनी करतूतों पर पर्दा डाल देता है। मई 2014 से लेकर अक्टूबर 2015 तक हरियाणा, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, पंजाब, बिहार, तमिलनाडु आदि राज्यों में दलित उत्पीड़न के अनगिनत मामले सामने आये। हर रोज ये खेतों, स्कूलों, मन्दिरों, कॉलेजों, नौकरियों और अन्य सार्वजनिक स्थानों पर जातीय भेद-भाव के चलते दलित समुदाय को अपमानित किया जा रहा है। इन सभी घटनाओं में दलितों के ऊपर किये गये अत्याचार के मामलों में उन्हीं जातियों के लोग नामजद हुए हैं जो अपने-अपने इलाके में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक रूप से ताकतवर हैं। यह सिलसिला कांग्रेस के राज में भी चलता रहा और भाजपा सरकार के दौर में भी तेजी से उभार पर है।

सुनपेड़ की घटना पर हरियाणा के मुख्यमंत्री मनोहर लाल खट्टर ने कहा कि घटना की शुरुआती खबरों से ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों परिवारों के बीच पुरानी रंजिश थी। केन्द्रीय मंत्री वी. के. सिंह ने सुनपेड़ में दलितों को जलाये जाने की घटना के सिलसिले में सरकार को बचाने की कोशिश करते हुए कहा कि ''यदि कोई व्यक्ति कुत्ते को पत्थर मारता है तो सरकार को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है।'' गोहाना की घटना पर उन्होंने चण्डीगढ़ से जाँच पूरी होने से पहले ही यह दावा कर दिया कि लड़के ने आत्महत्या की थी। मुख्यमंत्री द्वारा दिये गये बयान से साफ पता चलता है कि वह भारत की सामाजिक-व्यवस्था के केन्द्र में स्थित जाति-व्यवस्था पर सवाल नहीं उठने देना चाहते, बल्कि घटना को निजी रंजिश का नाम देकर इस पर पर्दा डालने का काम करते हैं। अगर सुनपेड़ की घटना को निजी रंजिश मान भी लिया जाय तो अन्य राज्यों में हुई घटनाओं के बारे में मुख्यमंत्री महोदय क्या कहेंगे? केन्द्रीय विदेश राज्य मंत्री ने दलितों की तुलना "कुत्ते" से करके उसी मानसिकता का परिचय दिया है जो सदियों से भारतीय समाज में ऊँची जतियों के

दिमाग में कोढ़ की तरह चिपकी है जिसके चलते दलितों को इनसान का दर्जा ही नहीं दिया जाता है।

दिल दहला देनेवाली ऐसी घटनाओं का हमारे सामाजिक ढाँचे से गहरा सम्बन्ध है। सदियों पहले हमारे यहाँ वर्ण-आधारित समाज-व्यवस्था का निर्माण हुआ था। भूमि, मानव-श्रम, पशु और युद्ध सामग्री ही उस समय की मुख्य सम्पत्ति थे। प्राकृतिक सम्पदा और मानव-श्रम पर स्वामित्व के लिए ही वर्ण-व्यवस्था लागू की गयी जिसने बाद में जाति-व्यवस्था का रूप धारण कर लिया। समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण में बाँटा गया। शूद्र वर्ण का काम उत्पादक श्रम करना था। शूद्रों को कई तरह के नागरिक अधिकारों जैसे शिक्षा, शस्त्र, सम्पत्ति और मूलभूत अधिकारों से वंचित रखा गया। दूसरी तरफ बाकी तीन वर्णों को संसाधनों का स्वामित्व और हर तरह का अधिकार प्रदान किया गया। भारतीय समाज-व्यवस्था में गैरबराबरी का इतिहास यहीं से प्रारम्भ होता है। इसी गैरबराबरी के साथ ऊँच-नीच की शुरुआत होती है। लम्बे समय तक ऊँच-नीच के भेद-भाव वाली सामाजिक- व्यवस्था में कोई बुनियादी परिवर्तन न होने के कारण यह मानसिकता प्रभुत्वशाली जतियों के मन-मस्तिष्क में गहरी पैठ बना चुकी है।

आजादी के बाद आधे-अधूरे भूमि सुधार के द्वारा शूद्रों के बीच कुछ जातियों के हिस्से में कुछ जमीने आ गयी। इसके चलते भारतीय समाज व्यवस्था सवर्ण, पिछड़ी और दलित श्रेणियों में बँट गया। लेकिन इससे सामाजिक व्यवस्था के केन्द्र में स्थित जाति व्यवस्था कमजोर न होकर और मजबूत हो गयी। दलितों के खिलाफ ऊँच-नीच के भेदभाव वाली मानसिकता अब और ज्यादा तीखी और व्यापक हो गयी।

पिछड़ी जातियों के पास जमीने आ जाने से वे आर्थिक रूप से उन्नत हो गये और उन्हें राजनीतिक ताकत मिल गयी। आर्थिक और राजनीतिक ताकत के बल पर पिछड़ी जातियाँ समाज के प्रभावशाली लोगों में शामिल हो गयीं। 1990 में मण्डल आयोग और नयी आर्थिक नीतियों के लागू हो जाने से पिछड़ी जातियों के बीच से भी एक नव धनाढ्य वर्ग पैदा हुआ और पिछड़ी जातियाँ पहले से अधिक प्रभावशाली हो गयीं।

अगर अपवादों को छोड़ दें तो ज्यादातर दलितों के पास आज भी जमीन नहीं है। गाँव का अधिकतर दलित तबका दबंग जातियों के खेतों में मजदूरी करके अपनी आजीविका चला रहा है। दलितों के पास ऐसा कोई दूसरा संसाधन भी नहीं है जिससे अपनी आजीविका चला सकें। जिन थोड़े से ग्रामीण लोगों को आरक्षण का लाभ मिला वे क्षेत्र से दूर हैं। लेकिन गाँवों में रहनेवाले दलितों की स्थिति पहले से भी बदतर हुई है। कुल मिलाकर दलित समुदाय आज भी आर्थिक रूप से कमजोर है, जिसके चलते उनकी सामाजिक हैसियत भी न के बराबर है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 19 (1) और 21 में दर्ज किये गये मौलिक अधिकारों में यह प्रावधान है कि भारत में रहनेवाले व्यक्ति के पास समानता का व्यवहार, आजीविका अर्जित करने, शोषण से मुक्ति पाने और सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार है। यह राज्य का दायित्व है कि वह इन अधिकारों का संरक्षण करे। अगर अपवादों को छोड़ दें तो शोषित और गरीब दलित को न्याय-व्यवस्था से निराशा ही मिली है। दबंग लोग अपने रसूख से न्याय-व्यवस्था को प्रभावित कर सकते हैं। क्या ताकतवर समुदाय के लोगों को कभी उसी तरह हत्या, बलात्कार, गम्भीर चोट, आगजनी, लूटपाट, अपमान, बेगारी, मतदान से वंचित करने, मार्ग रोकने, गाँव-घर छोड़ने पर विवश होने का सामना करना पड़ता है जैसा दलितों और जनजातियों, महिलाओं और अल्पसंख्यकों के साथ होता है? गरीब, शोषित, संसाधनहीन, उत्पीड़ित दलितों को संरक्षण देने के बजाय पुलिस-प्रशासन हर मामले में दबंगों की हिफाजत करता है। दबंग जातियाँ पैसों की ताकत और राजनीतिक पहुँच के दम पर फैसला अपने पक्ष में कर लेती हैं। बिहार में दलित नरसंहार को अंजाम देनेवाली रणवीर सेना के कातिलों की रिहाई इसका स्पष्ट प्रमाण है।

दलित नेताओं की सत्ता की भूख ने पूरे दलित समुदाय को जातिवादी और साम्प्रदायिक राजनीति के दलदल में धकेल दिया है। इस समय अधिकतर दलित नेता वोटों की सौदेबाजी कर रहे हैं। ऐसा करके वे वर्ण व्यवस्थावादियों के हाथ और भी मजबूत कर रहे हैं। इसके चलते जातिवाद और दलित उत्पीड़न समाज में और गहरी जड़ें जमाता जा रहा है। जातिवाद की जड़ों को मजबूत होने का मतलब है, समाज में ऊँच-नीच की मानसिकता का बढ़ना। यही कारण है कि पूरे देश में प्रतिदिन दलितों के ऊपर हमले लगातार बढ़ते जा रहे हैं।

डॉक्टर भीमराव आम्बेडकर ने दलित अत्याचार का कारण जाति व्यवस्था को चिन्हित किया था। उन्होंने कहा था कि जब तक इस जाति व्यवस्था का समूल नाश नहीं होता, तब तक ऊँची जातियों द्वारा दलितों को हिकारत भरी नजरों से देखा जायेगा। उन्होंने कहा था कि शिक्षित बनो, संगठित हो, संघर्ष करो। शिक्षित बनो का सीधा मतलब है राजनीतिक चेतना से लैस होना। संघर्ष करने का अर्थ है उस जाति व्यवस्था और शोषक अर्थतंत्र के खिलाफ संघर्ष करना है जिसमें दलितों को "नीच जाति" कहकर अपमानित और शोषित किया गया। जाति व्यवस्था हमारे समाज के लिए कोढ़ है। आज पूरे समाज की जिम्मेदारी है कि जाति व्यवस्था के खिलाफ खड़े हो।

1990 में लागू नवउदारीकरण की नीतियों ने जाति व्यवस्था को उभारकर सतह पर ला दिया है। सामाजिक सेवाओं और सरकारी सुविधाओं में कटौती से दलित तबका बुरी तरह प्रभावित हुआ है। निजीकरण ने दलित जातियों का आरक्षण लगभग खत्म ही कर दिया है, जिससे आर्थिक विषमता तेजी से बढ़ती जा रही है। यही कारण है कि एक ओर दलितों के ऊपर अत्याचार में वृद्धि हुई है तो दूसरी ओर उनका बेतहाशा शोषण हो रहा है। इस तरह दलित अत्याचार के लिए जाति व्यवस्था के साथ-साथ देशी-विदेशी पूँजी के हित में जारी नवउदारवादी आर्थिक नीतियाँ भी जिम्मेदार हैं। शोषण और अत्याचार की इस व्यवस्था से मुक्ति का एक ही रास्ता है-- अन्याय के खिलाफ संगठित होकर संघर्ष के लिए तैयार हो जाना। इसके लिए जाति-धर्म के दायरे से आगे निकलकर सभी शोषित-उत्पीड़ित लोगों का एकजुट होना जरूरी है।

अर्थशास्त्र का नोबेल पुरस्कार : बाजारवाद पर पैबन्दसाजी

--अमित इकबाल

एंगस डीटन को अर्थशास्त्र में उनके सैद्धान्तिक योगदान के लिए वर्ष 2015 के नोबेल पुरस्कार से नवाजा गया है। वे अमरीका के प्रिन्सटन विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र तथा अन्तरराष्ट्रीय अध्ययन के अध्यापक हैं। मुख्यतः तीन योगदान के लिए उनको ये पुरस्कार दिया गया- पहला, 1980 के आस-पास अपनी सहकर्मी मिउएल्बौअर के साथ मिलकर अलग-अलग चीजों की सही माँग निर्धारण करने का तरीका खोजना, दूसरा 1990 आस-पास आमदनी और उपभोग के सम्बन्ध पर उनका शोध और 3. उसके बाद विकासशील देशों में किये गये व्यापक सर्वेक्षण के जरिये गरीबी रेखा और जीवनस्तर मापने का पैमाना निर्धारित करना।

ऊपर के तीन विषयों में से आखिरी का अध्ययन करते हुए उन्होंने भारत को अपना कार्य क्षेत्र बनाया और यहाँ के 'राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण' (एनएसएस) और राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी का भरपूर इस्तेमाल किया। इसी प्रक्रिया में उन्होंने पिछले दो दशक से चलती आ रही गरीबी रेखा बहस में भी हिस्सेदारी की और इसकी निर्धारण पद्धति को भी प्रभावित किया। खासकर उन्होंने यहाँ की गरीबी और सामाजिक-आर्थिक विषमता के बारे में विस्तार से शोध किया। उनका यह काम अब भी जारी है। उनका मानना है कि गरीबी सिर्फ पैसों की कमी या न्यूनतम उपभोग या पौष्टिक आहार की कमी नहीं है, बल्कि उससे भी ज्यादा आहार के सीमित विकल्पों में है। राशन की दुकान की जगह गरीब परिवारों को नगद पैसा देने की नीति के बारे में उनकी राय है कि पैसा देने के साथ-साथ बाजार-भाव पर भी नजर रखनी पड़ेगी कि उतने पैसों से किसी परिवार का न्यूनतम उपभोग पूरा हो भी रहा है या नहीं। इसी तरह शिक्षा, स्वास्थ्य आदि बुनियादी मामलों में उनकी राय आर्थिक रूप से कमजोर बहुसंख्यक जनता के पक्ष में रही है।

अपने इतिहास की शुरुआत से ही मुक्तबाजार के पैरोकार अर्थशास्त्रियों को पुरस्कृत करनेवाली स्वीडन की राजकीय विज्ञान अकादमी क्या आज अचानक अपनी दिशा से भटक गयी? सन 1969 से लेकर आजतक किसी भी बाजार-विरोधी अर्थशास्त्री को इसने सम्मान नहीं दिया है। इस पुरस्कार से सम्मानित लोगों की तालिका में ऐसे अर्थशास्त्री भी हैं जो गरीबी, बेरोजगारी आदि बुनियादी समस्याओं को वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ जुड़ी हुई अनिवार्य समस्या के रूप में देखते हैं। लेकिन क्या वजह है कि आजकल इसी बाजारवादी अर्थशास्त्र के दायरे में जो लोग 'बाजार की क्रियाविधि की आलोचना करते हैं' उन्हें दुनिया का सबसे बड़ा अकादमिक सम्मान दिया जा रहा है।

अध्यापक डीटन अकेले नहीं हैं जिनको बाजारवादी अर्थशास्त्र के सुर में सुर न मिलाने के बावजूद पुरस्कृत किया गया है। इससे पहले 2008 में पॉल क्रुगमैन, 2009 में एलिनोर ओस्ट्रोम, 2013 में रॉबर्ट शिलर, 2014 में जें तिरोले के योगदान पर भी नजर डाली जा सकती है। पॉल क्रुगमैन ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक भूगोल के अपने शोध के दौरान पूरी दुनिया और अमरीकी सरकार को शेयर बाजार में आनेवाली भारी गिरावट के लिए आगाह किया था, जिस कारण आज भी वे बाकी बाजारवादी अर्थशास्त्रियों की नजर में पागल हैं।

अर्थशास्त्र में नोबेल पुरस्कार हासिल करनेवाली पहली महिला थी एलिनोर ओस्ट्रोम, जो असल में राजनीति विज्ञान की अध्यापिका थी। आज हर सार्वजनिक सम्पत्ति जैसे-- झील, मैदान, पहाड़ों पर बाजार की बढ़ती दखल के जमाने में उनका कहना था कि ऐसी प्राकृतिक सम्पत्ति की रक्षा उससे जुड़े हुए समुदाय ही सही तरह से कर सकते हैं और वहाँ बाजार को दखलन्दाजी नहीं करनी चाहिए। रॉबर्ट शिलर ने भी वित्तीय अर्थनीति पर शोध करते हुए क्रुगमैन की तरह ही दुनिया को आनेवाले संकट की चेतावनी दी थी तथा अमरीका और विकसित देशों की आर्थिक बुनियाद हिल जाने का अनुमान लगाया था। मुक्त बाजार की गुहार लगानेवाले अर्थशास्त्र के अन्दर से ही जें तिरोले ने एकाधिकारी पूँजी के वर्चस्व को रोकने के लिए बाजार के ऊपर ज्यादा कारगर तरीके से नियंत्रण करने की सिफारिश की है।

गौर करनेवाली बात है कि इनमें से कोई भी बाजार-संचालित व्यवस्था के खिलाफ नहीं है, लेकिन वे, हर समस्या का समाधान बाजार में नहीं देखते; उलटा वे बहुत सारी समस्याओं के लिए बाजार को ही जिम्मेदार ठहराते हैं। उनका मानना है कि सरकार को अपनी जिम्मेदारी निभाते हुए आम जनता को रोटी, कपड़ा, शिक्षा, चिकित्सा, मकान आदि बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध करवानी चाहिए, तभी किसी देश के मजदूर स्वस्थ होंगे जो स्वस्थ अर्थव्यवस्था की बुनियादी शर्त है।

पिछली सदी की शुरुआत में दुनिया-भर में मजबूत मजदूर आन्दोलनों के बढ़ने के साथ-साथ विश्व बाजार में आयी मन्दी के कारण भी 'कल्याणकारी राज्य' की अवधारणा सामने आयी थी। जिसको गरीबों की बगावत के डर से ही

सही लेकिन बहुसंख्यक जनता के हितों में, विकसित देशों ने लागू किया था। कई देशों में मजदूरों ने सत्ता पर कब्जा करके, व्यवहार के धरातल पर इस बात को स्थापित किया था कि बुनियादी सुविधा उपलब्ध करवाना सरकार की जिम्मेदारी है। लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की दुनिया में अमरीका की सरदारी में हासिल पूँजीवादी विकास के 'स्वर्णिम युग' को टिकाये रखने के लिए गरीबों का पेट काटकर मुनाफा बढ़ानेवाले बाजारवाद को दोबारा स्थापित करना जरूरी था। इसी कोशिश का नतीजा था कि स्वीडन के केन्द्रीय बैंक ने (जो दुनिया का सबसे पुराना केन्द्रीय बैंक है) वहाँ की राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी को शोध के लिए ज्यादा आर्थिक मदद देने के बजाय वैज्ञानिक सर अल्फ्रेड नोबेल के नाम पर एक नये पुरस्कार की घोषणा की-- अर्थशास्त्र के लिए स्वेरिजेस रिक्स बैंक अल्फ्रेड नोबेल स्मृति पुरस्कार। इसको पानेवाले लगभग सभी अर्थशास्त्री आज की प्रमुख धारा, नव-क्लासिकीय बाजार-संचालित अर्थव्यवस्था में आस्था रखते हैं और इनमें भी एक-दो को छोड़कर, बाकी सब सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक समस्याओं को समग्रता में देखने के बजाय टुकड़ों में देखना पसन्द करते हैं। इसी सोच का नतीजा है कि आज औपचारिक अर्थशास्त्र में बेरोजगारी और महँगाई किसी भी अर्थव्यवस्था को चलाने के लिए जरूरी हैं, फसलों का न्यूनतम समर्थन मूल्य किसानों के लिए नुकसानदेह है, न्यूनतम मजदूरी कानून बेरोजगारी के लिए जिम्मेदार है, जैसे बकवास तर्क गढ़े जाते हैं और शासक वर्ग के चाटुकार मीडिया के जरिये हमारे दिमाग में रोज-रोज ठूँसे जा रहे हैं। नोबेल पुरस्कार के जरिये इस सोच को अन्तरराष्ट्रीय मान्यता देकर जनमानस में और पाठ्यक्रमों में स्थापित किया जाता है।

दूसरी ओर अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ के जमाने से चली आ रही एक दूसरी धारा 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' (अट्ठारहवी और उन्नीसवीं सदी में अर्थशास्त्र का यही नाम था) को पूरी तरह दरकिनार कर दिया गया है। स्मिथ से लेकर उन्नीसवीं सदी के सभी क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों की कोशिश थी कि समस्या को टुकड़ों में न देखकर समग्रता में देखा जाये। इसके चलते किसी ने व्यापार को आगे बढ़ाकर मुनाफे पर आधारित समाज सिद्धान्त दिया, तो किसी ने जरूरत और मानवता के आधार पर विश्व व्यवस्था निर्माण का सिद्धान्त दिया। लेकिन दुनिया-भर में बढ़ते व्यापार और उनकी खैरात पर पलनेवाले बुद्धिजीवियों में से बहुत से लोग राजनीतिक अर्थशास्त्र में से राजनीति को निकाल बाहर करने के काम में जुट गये। समाज पर राज करनेवाले व्यापारी वर्ग को तुष्ट करके विश्वविद्यालयों, शोध केन्द्रों में पैसा लाने के लिए उनको यही तरीका सही लगा। इसके लिए वे नये-नये तर्क भी गढ़ने लगे जिसके लिए व्यक्तिवादी उपयोगितावाद और जटिल गणित का इस्तेमाल करना जरुरी था।

जब समाज को महज व्यक्तियों के समूह से ज्यादा कुछ नहीं समझा जायेगा, तब वे अपनी-अपनी परेशानी के लिए खुद को ही जिम्मेदार ठहरायेंगे। क्योंकि आज जो जैसा है, यानी अमीरी-गरीबी, जात, धर्म में बटा समाज, राज्य आदि पर सवाल उठाना मना है। वे हमें इस भ्रम में जरूर रखेंगे कि बिना पैसे और सम्पत्ति के सिर्फ मेहनत के दम पर आप भी टाटा-बिड़ला बन सकते हैं। पहले की तरह आज भी मौजूदा हालात पर या सिद्धान्तों की वैधता पर उठाये गये सवाल को 'राजनीति' कहकर खारिज कर दिया जाता है। इसलिए हम देखते हैं कि बढ़ते हुए नस्ली, जातीय, धार्मिक, लैंगिक उत्पीड़न का कारण बाजारवादी अर्थशास्त्री तथा समाजशास्त्री एक-एक व्यक्ति में देखते हैं और पूरी समाज-व्यवस्था का ठहराव और सड़ान्ध दूसरों की तरह उनको भी नहीं दिखता। दुनिया-भर के गणित, भौतिकी, कम्प्यूटर विज्ञान और सांख्यिकी में शिक्षित नौजवानों को लुभावने मॉडल में फँसाकर देश-दुनिया से आँख मूँदकर मुनाफा बढ़ानेवालों की फौज में शामिल किया जा रहा है जिसके बारे में खुद पॉल क्रुगमैन कहते हैं कि ''सुन्दर आकर्षक गणितीय समीकरण के मोह में आज के अर्थशास्त्री वास्तविकता को नजअन्दाज कर रहे हैं।''

पिछले दशक से ही बाजारवाद की आलोचना करनेवाले अर्थशास्त्रियों को सम्मानित करके वैश्विक व्यापार के बौद्धिक केन्द्र-- स्वीडन की राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी असल में बाजारवादियों के आत्मविश्वास में गिरावट को ही दिखा रही है। इसी के साथ-साथ विश्व व्यापार के काले घोड़े चीन के ऊपर मँडराते संकट के काले बादल भी इन अर्थशास्त्रियों और उनके दर्शन को झूठा साबित कर रहे हैं। आज चीन तथा दुनिया का बाजार गहरे संकट और ठहराव की गिरफ्त में है। प्रसिद्ध अमरीकी चिन्तकों जॉन बेलामी फॉस्टर और रॉबर्ट मैकस्चेस्नी ने अपनी किताब 'दी एण्डलेस क्राइसिस' में इसकी गम्भीर पड़ताल की है। (यह किताब हिन्दी में 'अन्तहीन संकट' के नाम से गार्गी प्रकाशन ने 2014 में प्रकाशित की है।) पिछली सदी के जनपक्षधर अर्थशात्री पॉल स्वीजी, हैरी मैग्डॉफ, पॉल बरान, माइकेल कालेकी के कंधे पर सवार उनके इन उत्तराधिकारियों ने इस स्थिति के समाधान के रूप में न्याय और समानता पर आधारित मेहनतकशों के राज की सिफारिश की थी।

बहरहाल, नोबेल पुरस्कार की इस दिशा को देखते हुए यह भी प्रतीत होता है कि आगे जाकर डगमगाती हुई वित्तीय अर्थव्यवस्था और उसके पैरोकारों को जल्द ही जनपक्षधर बुद्धिजीवी, राजनीतिक अर्थशास्त्री तथा जमीनी आन्दोलनों की कड़ी चुनौती का सामना करना पड़ेगा। आज के विश्व बाजार के सरदार अमरीका के ही एक जनपक्षधर अर्थशास्त्री माइकेल डी. येट्स कहते हैं कि ''नव-क्लासिकीय अर्थशास्त्र व्यवहार में इतनी बार गलत साबित होने के बावजूद आज भी कॉलेजों, विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जा रहा है। यह साबित करता है कि यह कोई विज्ञान नहीं बल्कि एक राजनीतिक विचारधारा है।'' आज जरूरी है कि हर रोज, हर पल प्रचारित इस फर्जी विचारधारा के हर एक झूठ का भण्डाफोड़ करें और उसके खिलाफ वैचारिक और जमीनी लड़ाई के लिए अपने आप को तैयार करें।

वियतनामी जनता को सम्मानित करो, उनको नहीं जिन्होंने उनका कत्ल किया

–माइकल डी. येद्स

वियतनाम युद्ध के पूर्व सैनिक चार्ल्स मैकडफ को लिखे एक पत्र में मेजर जेनरल फ्रेंकलिन डेविस, जूनियर ने लिखा था कि "अमरीकी सेना ने बेलगाम हत्या या मानव जीवन के प्रति अनादर के लिए कभी किसी को माफ नहीं किया।" मैकडफ ने जनवरी 1971 में राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन को एक पत्र लिखकर यह बताया था कि उसने अमरीकी सैनिकों को वियतनामी नागरिकों के साथ दुर्व्यवहार करते और उनकी हत्या करते हुए देखा था। उसने यह भी बताया था कि युद्ध के दौरान वहाँ माई लाई जैसे कितने ही जनसंहार घटित हुए थे।[1]

उसने निक्सन से निवेदन किया था कि वे वहाँ पर हो रही हत्यायों पर रोक लगायें। व्हाइट हाउस ने वह पत्र जेनरल के पास भेज दिया जिसका उसने उपरोक्त जवाब दिया।

निक टर्स कि किताब *किल एनीथिंग देट मूव्स : द रियल अमरीकन वार इन वियतनाम* में मैकडफ कि चिठ्ठी और जेनरल का जवाब उद्धृत किया गया है। यह सबसे ताजा किताब है जिसमें आकात्य रूप से यह दिखाया गया है कि जेनरल की बातें सरासर झूठ थीं।[2]

लगभग हरेक गाँव में युद्ध अपराध करते हुए, अमरीका ने न केवल अभूतपूर्व हिंसक क्रूरता के साथ वियतनाम का विध्वंश किया, बल्कि यह आपराधिक कुकृत्य उसकी औपचारिक सरकारी नीति थी। अमरीका ने फ्रेडरिक टाईलर-नुमा दक्षता और एक इंजीनियर की निर्वैयक्तिक लागत-मुनाफा, जोड़-घटाव के आधार पर युद्ध का संचालन किया जिसमें अधिकतम वियतनामी मौत, इस व्यापार की मानक कार्यविधि थी।[3]

इस लेख में मैंने टर्स कि रचना के साथ-साथ कई दूसरी किताबों, लेखों और फिल्मों का उपयोग किया है, ताकि इन तमाम बातों का विश्लेषण करने के लिए एक खाका तैयार हो, जैस- वह युद्ध किस तरह चलाया गया, वियतनाम के लिए इसके क्या दुष्परिणाम सामने आये, युद्ध की प्रकृति ने किस तरह इसके खिलाफ उग्र विरोध को जन्म दिया (यह भी कम नहीं कि इसमें अमरीकी सैनिकों का एक कोर भी शामिल हुआ), युद्ध के इतिहास पर किस तरह लीपापोती की गयी और ये दोनों बातें जानना क्यों जरूरी है कि वियतनाम युद्ध में क्या हुआ और क्यों हम इसे भूल नहीं सकते।

मैकनमारा का युद्ध व्यापार प्रारूप

राष्ट्रपति लिंडन जॉन्सन का रक्षा मंत्री रॉबर्ट मैकनमारा अमरीकी युद्ध रणनीति का मुख्य निर्माता था।[4] मैकनमारा एक सम्भार-तंत्र (लौजिस्टिक) विशेषज्ञ था जिसने दूसरे विश्व युद्ध के दौरान मित्र राष्ट्र की सेनाओं के लिए बमबारी को कारगर बनाने का काम किया था और बाद में जनरल मोटर कम्पनी का अध्यक्ष बना था। उसका मानना था कि युद्ध जीतना महज एक लक्ष्य तय करने की बात है जिसका परिणाम जीत के रूप में सामने आयेगा और फिर वह उस प्रबन्धकीय तकनीक का इस्तेमाल करके यह काम पूरा करेगा जिसमें वह पारंगत है। लक्ष्य था ''कत्ल अनुपात'' हासिल करना यानी कि दुश्मन और अमरीकी मृतकों के बीच का अनुपात यथासम्भव ऊँचा रहे, ताकि एक "चरम बिन्दु" हासिल हो सके यानी इतने ज्यादा दुश्मन मारे जायें कि उनकी दुबारा प्रतिपूर्ति न हो सके। फिर, अनिवार्य रूप से, वियतनामी जनता अमरीकी युद्ध तंत्र का प्रतिरोध करने में असमर्थ हो जायेगी, आत्म-समर्पण कर देगी और शान्ति की भीख माँगेगी। मैकनमारा ने जिस तरह की झाँकी प्रस्तुत की, वह एक पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया के रूप में वियतनाम युद्ध की कल्पना करना है। व्यवस्था की चालक शक्ति के रूप में मुद्रा पूँजी के संचय को मारे गये दुश्मनों की लाश से प्रतिस्थापित करो। अमरीकी सरकार ने अपनी सेना के जरिये इसे चरम सीमा तक बढ़ाने की कोशिश की। हालाँकि, जैसा मैकनमारा और उसके वरिष्ठ और जेनरल जानते थे, उनके दुश्मन ने आमने-सामने की लड़ाई से बचते हुए गुरिल्ला युद्ध छेड़ा था, हमला करना और फिर ग्रामीण परिवेश में गायब हो जाना। अमरीकी सैनिक वियतनामी फौजियों और नागरिकों में आसानी से फर्क नहीं कर पाते थे। हाँ, हर एक वियतनामी एक फौजी हो सकता था, यहाँ तक कि औरतें और बच्चे भी। हालाँकि कोई भी इसे स्वीकार नहीं करेगा, लेकिन लगातार कत्ल अनुपात बढ़ाने का मतलब निश्चय ही यही था कि जितना अधिक नागरिकों का कत्ल कर सकते हो, करो। और अगर यह मान भी लिया जाय कि कोई समूह वियतनाम के आम नागरिकों का ही क्यों न हो, उनमें से जितने अधिक लोगों का कत्ल किया जायेगा, दुश्मन की सेना उतनी ही जोखिम में पड़ेगी और मरने वाले सैनिकों की जगह नयी भर्ती करने के लिए उतने ही कम लोग बचेंगे।

इसी बात को भूतपूर्व रक्षा मंत्री डोनाल्ड रम्सफील्ड ने मौजूदा "आतंकवाद के साथ युद्ध" के सन्दर्भ में कहा कि आतंकवादियों से मुठभेड़ का जो सबसे बढ़िया तरीका अमरीका अपना सकता था वह यही कि "जिस दलदल में वे रहते हैं, उसे सुखा दो।"[5] गैर लड़ाकों को कत्ल करो और सिर्फ दुश्मन फौजी ही बच जायेंगे।

उनके पास वह दलदल नहीं रह जायेगा, जहाँ वे छुप सकें। युद्ध की शुरुआत से ही, इसीलिए नागरिकों को कत्ल करना एक अमरीकी नीति थी, जो सीधे-सीधे कत्ल अनुपात को चरम सीमा तक बढ़ाने के लक्ष्य से निकली थी। नागरिकों की हत्या करना लड़ाई के नियमों का उल्लंघन और एक युद्ध अपराध है, इसीलिए इन हत्याओं पर पर्दा डालने और यह दिखाने के लिए कि ये लड़ाई में की गयी हत्या नहीं हैं, उन्हें काफी मशक्कत करनी पड़ी और टर्स ने इसके कई उदाहरण दिये हैं। एक प्रचलित तरीका मारे गये नागरिक की लाश की बगल में दुश्मन का हथियार रखकर उसे सिपाही के रूप में पेश करना था। हालाँकि हमेशा ऐसा करना जरूरी नहीं होता था, क्योंकि घटना स्थल पर मौजूद किसी लेफ्टिनेंट या कैप्टन की बातों को ही कमान अधिकारी लगभग हमेशा ही सही मान लेते थे।

दुश्मन की लाश ऋण अमरीकी लाश (जिसमें अन्तर को कत्ल अनुपात परिभाषित किया गया) ठीक उसी तरह नहीं है, जैसा आमदनी ऋण लागत (मुनाफा); पूँजी संचय के विराट रथ को चलाते रहने के लिए इसे मुद्रा में बदलना होता है। मुद्रा में बदलने का काम अमरीकी सरकार के तत्त्वावधान में सम्पन्न होता है, जिसे हम अकूत नगदी भण्डार-युक्त एक विशालकाय फर्म के रूम में समझ सकते हैं, जिसे न केवल अपने देश में, बल्कि विदेशों में भी असीम उधार मिलने की सम्भावना हो। टैक्स बढ़ाये जा सकते हैं, बॉण्ड बेचे जा सकते हैं, नोट छापे जा सकते हैं और चूँकि दुनिया-भर में डॉलर का उपयोग प्राथमिक सुरक्षित मुद्रा के रूप में होता है, इसलिए किसी भी देश के साथ भुगतान घाटा अनिश्चित काल तक जारी रह सकता है। तब तक पैसा मुहैया होता रहता, जब तक युद्ध का अन्त विजय में न हो जाये।

जैसा कि कोई भी नियोक्ता जानता है, प्रबन्धन का सारतत्त्व है नियन्त्रण। चरम सीमा तक कत्ल अनुपात बढ़ाने के मद्दे नजर, उत्पादन प्रक्रिया के हर पहलू के साथ यथासम्भव बारीकी से तालमेल बैठाना होता था। नाना प्रकार के नियन्त्रण महत्त्वपूर्ण थे। पहला, काफी संख्या में मजदूर होने चाहिए थे (फौजी और सहायक सैनिक)। अनिवार्य भर्ती के जरिये वास्तव में फौजियों की असीमित आपूर्ति की गारन्टी थी। ऐसे नौजवान जिनका परिवार अच्छे पदों पर और राजनितिक पहुँच वाले थे वे विभिन्न उपायों से अनिवार्य भर्ती से बच सकते थे, इसलिए वे युद्ध का मुखर विरोध नहीं कर सकते थे, क्योंकि उनका मानना था कि ऐसा करना ठीक नहीं होगा। गरीब गोरों, काले लोगों, लातिन अमरीकी मूल के लोगों और अमरीकी रेड इंडियनों के बारे में यह माना जाता था कि ये अपनी आर्थिक स्थिति के कारण फालतू और निबटाये जाने के काबिल थे और इन्हें युद्ध में झोंकना एक ऐसा उपाय था, जिससे देश के भीतर उनके किसी असन्तोष और आन्दोलन को रोकना भी सम्भव होगा।

एक बार भर्ती कर लेने के बाद फौजी को कत्ल करना सिखाना पड़ता था। एक आदमी के लिए दूसरे आदमी का कत्ल करना सामान्य नहीं होता और ऐसा करने के खिलाफ मजबूत सामाजिक वर्जनाएँ भी हैं। शोधकर्ताओं ने पाया था कि उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के युद्धों में फौजी अमूमन अपनी रायफलों से गोली दागने में विफल रहते थे या जानबूझकर ऐसा निशाना लगाते थे कि वह चूक जाय। सैन्य अधिकारियों ने इसका जवाब सिपाहियों के प्रशिक्षण विधि में नाटकीय बदलाव लाकर दिया।[6] उन्होंने दो तरीकों से चरम सामूहिक भाईचारा बनाने की कोशिश की। पहला, कवायद करानेवाले प्रशिक्षक नये रंगरूटों को वे लगातार इस तरह सताते रहते थे कि वह लगभग यन्त्रणा देने के समान होता था। अगर आप प्रशिक्षु को खाने और नींद से वंचित रखेंगे, विपरीत परिस्थितियों में उससे लम्बा मार्च करने के लिए दबाव डालेंगे, किसी भी बेहूदे और अपमानजनक आदेश का उल्लंघन करने पर कठोर दण्ड देंगे, तो आप उनकी प्रतिवाद क्षमता को तोड़ देंगे और उन्हें ऐसा बना देंगे कि आप जो भी कहें, उसे करने को राजी हो जायें, दूसरे शब्दों में उन्हें एक समरूप समूह में ढालना, एक ऐसी इकाई जो एक होकर कार्रवाई करेगी।[7] कोई भी तार्किक व्यक्ति जिसे एक उन्मादी अनुशासन की जकड़ मानेगा, फिर भी उसका वह बिना सोच-विचार किये पूरी तरह पालन करेगा। अगर कोई ऐसा नहीं करते तो उन्हें "जनखा", "चूतिया", "समलिंगी" या "जनाना" करार दिया जाता था। अधिकारी और सहकर्मी उसका शारीरिक और मानसिक उत्पीड़न करते। दूसरे, प्रशिक्षक हमले के दौरान रंगरूटों पर आनेवाली मुसीबतों के लिए असभ्य विदेशियों, वियतनाम के मामले में "gooks", "slopes", "घुच्ची आँखोंवाले", "पीली चमड़ीवाले दोगले" और "the cong" की बुरी नियत को जिम्मेदार ठहराते। थकान से चूर, गुस्सा और भय के मारे वे धीरे-धीरे "gooks" को मार डालो, gooks को मार डालो का मन्त्र जपने लगते। युद्ध क्षेत्र में जाने तक वे हत्या के लिए हत्या करने को तैयार हो जाते, किसी पवित्र उद्देश्य के लिए नहीं, बल्कि अपने सहकर्मियों के लिए और इसलिए भी कि जिनकी वे हत्या करने जा रहे हैं, वे उन जानवरों से बेहतर नहीं हैं, जिनका वे अपने देश में शिकार किया करते हैं। क्या इसमें कोई आश्चर्य है, कि ज्यादातर अमरीकी सैनिक वियतनामी नागरिकों की हत्या करना चाहते थे? एक दुश्मन देश में लगातार मार्च करने के कारण गर्मी, गन्दगी, बीमारी से त्रस्त, जंगली इलाकों में लड़ते हुए, अपनी आँखों के आगे साथी फौजियों को टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरते देखते, आश्चर्यचकित कि वे आखिर वहाँ क्या करने आये हैं, इस बात के लिए लगातार दबाव कि ज्यादा से ज्यादा कत्ल करो और इसके बदले ईनाम पाते हुए, आम तौर पर उन्हें लोगों को गोली मारने, उनको यातना देने, महिलाओं के साथ बलात्कार करने और जितना ज्यादा हो सके हिंसक अंगभंग करने में उन्हें कोई अरुचि नहीं होती थी।[8] और कहीं हम यह न सोचें कि केवल आम फौजी ही नरसंहार के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार थे, क्योंकि खुद उनके अधिकारी भी अमूमन खून के प्यासे नस्ली हत्यारे थे जो युद्ध को अपनी पदोन्नती का सुनहरा अवसर मानते थे। कोलिन पावेल इसकी सबसे सही मिसाल है जिसने माई लाई नरसंहार पर पर्दा डालने में मदद की थी और इसमें सन्देह नहीं कि फौजी अफसर अकसर यह

मानते थे कि वे वियतनामियों के बारे में जो बकवास गढ़ते थे वही सही था। जैसा कि मुख्य कमान अधिकारी विलियम वेस्टमोरलैण्ड का कुख्यात कथन है-- "पूरब के आदमी की जान उतनी कीमती नहीं होती जितनी एक पश्चिमी आदमी की होती है... हम जीवन और मानव सीमा का मूल्य जानते हैं,'' अधिकारियों ने ही तो फौजियों को निर्देश दिया था, उन्हीं लोगों ने युद्ध अपराधों पर पर्दा डाला था, उन्होंने ही युद्ध क्षेत्र में यातना देने की विधियाँ ईजाद की थीं और वे ही लोग थे जिन्होंने परपीड़क दाँव-पेंच खोजा था, जिसकी चरम परिणति यह आदेश था कि ''जो भी चीज चलती फिरती हो' उसे कत्ल करो।''

अपनी सेना के अलावा अमरीका ने दक्षिण कोरिया, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और अन्य देशों से भी सैनिकों (सही मायने में भाड़े के सैनिकों) और साथ ही, नागरिकों और अर्धसैनिक सहायक कर्मियों की भर्ती की थी। उसने दक्षिण वियतनाम के अधिकांश सैनिकों को भी धन दिया था, जो कथित रूप से स्वाधीन थे, लेकिन वास्तव में अमरीकी सेना के नियन्त्रण में थे। यह सभी मैकनमारा की योजना के साथ वहाँ तैनात थे और इनमें से कुछ ने तो हत्या करने की अपनी अनोखी दक्षता का प्रदर्शन किया था। साइऑप्स (मनोवैज्ञानिक फौजी कार्रवाई), अपने घरों और खेतों से जबरन भगाये गये लोगों के लिए ''रणनीतिक बस्ती'' बसाना, राजनीतिक हत्या अभियान, यातना के नये-नये तरीके, पूरे युद्ध के दौरान ये सारे काम ऐसे ही अर्धसैनिकों द्वारा अंजाम दिये गये।[10]

किसी उत्पादन प्रक्रिया में गैर-मानव लागत की भी जरूरत होती है, जिसे मार्क्स ने स्थिर पूँजी कहा है। वियतनाम युद्ध में इसमें मुख्य रूप से व्यापक विनाश के हथियार शामिल थे-- क्लेमोर माइन्स, टैंक, हैलिकोप्टर? गनशिप, युद्धपोत, बी-52 बम वर्षक से लेकर नापाम, एजेन्ट औरेंज, सफेद फासफोरस और अमरीकी रासायनिक शस्त्रागार की अनेकानेक वस्तुएँ भी। अमरीका मौत के इन साधनों की बेरोकटोक आपूर्ति कर रहा था और इनके इस्तेमाल के लिए तत्परता में भी कोई कमी नहीं थी। हर स्तर के सैनिकों को हर परिस्थिति में व्यापक संहार के हथियारों का इस्तेमाल करने का प्रशिक्षण दिया गया था और जहाँ नागरिकों की जान को "सहवर्ती क्षति" का खतरा हो, वहाँ भी इनका इस्तेमाल होता था।

इसलिए अब, हमारे पास मुद्रा पूँजी है (जो अमरीकी सरकार के विराट कोष से आता है) जो श्रम शक्ति और स्थिर पूँजी के रूप में पूँजी में बदल गयी है। उस दौरान युद्ध क्षेत्र में जितने कारगर तरीके से सम्भव था, ये दोनों संयुक्त हो गये थे, जो उन फौजियों और सहायक कर्मियों के कठोर प्रशिक्षण द्वारा नियन्त्रित श्रम प्रक्रिया की देन थी, जिन से जो भी कहा जाता, करते थे या खुद ही यह सुनिश्चित करते थे कि कत्ल अनुपात अधिक हो और बढ़ता रहे।

आखिर में कत्ल अनुपात को ''बेचना होता'' था, ताकि लाशों के संचय को बढ़ाया जा सके। निश्चय ही यह बिक्री के परम्परागत तरीके से नहीं किया गया था। बजाय इसके, यह मीडिया, आम जनता और राजनेताओं के बीच श्रमसाध्य और निरन्तर प्रोपगेण्डा के जरिये बेचा गया जिनको आखिरकार लगातार धन देने के लिए राजी करना जरूरी था। हमेशा ही "सुरंग के आखिरी छोर पर रोशनी" होती थी। अमरीका धीरे-धीरे, लेकिन निश्चयपूर्वक वियतनामी जनता के "दिल और दिमाग" जीत रहा था (दक्षिणी) वियतनाम में अमरीका ने जो कठपुतली सरकार बिठायी थी वह लोकतंत्र के प्रति समर्पित थी और लोग उसके झण्डे के नीचे जमा हो रहे थे।

इन वाहियात दावों को सत्याभासी बनाने के लिए हर तरह के झूठ को बार-बार दुहराना जरूरी था, ताकि घिनौनी सच्चाइयों को दिन के उजाले से दूर रखा जाये। सैनिक और सरकार इसमें पारंगत हो गये थे। कुछ चुनिन्दा सिपाही और लगभग नहीं के बराबर अफसर अमरीकी फौज द्वारा किये गये हजारों युद्ध अपराधों के लिए दण्डित हुए। उनको भी बहुत ही कम सजा दी गयी और माई लाई के व्यापक नरसंहार जैसी भयावह घटना की जाँच-पड़ताल और उनका प्रकाशन चाहे जितना भी चौंकानेवाला क्यों न हो, सरकार उससे होने वाले नुकसान को रोकने में समर्थ थी जो उन बातों के प्रति जनता की रुचि और गुस्से के ठंडा होने का इन्तजार करती थी और यह दलील देती थी कि इस तरह की वीभत्स घटनाएँ बहुत कम हुईं थीं और यह "थोड़े से बदमाश लोगों" का काम था।

इस तरह, लाशों के उत्पादन में विस्तारित पूँजी लगातार मुद्रा में बदलती रही और पूँजी संचय तेजी से आगे बढ़ता रहा।

हत्याकाण्ड के पैमाने से आँकने पर ''वैज्ञानिक प्रबन्धन'' द्वारा संचालित मैकनमारा का युद्ध एक भारी सफलता था। टर्स ने अमरीकी सेना की कार्रवाई का सार प्रस्तुत किया है-- ''हत्या, यातना, बलात्कार, दुर्व्यवहार, जबरन बेदखली, घर जलाना, बेवजह गिरफ्तारी, बिना मुकदमा चलाये कैद, इस तरह की घटनाएँ वियतनाम में अमरीकी घुसपैठ के वर्षों में लगातार रोजमर्रे की जिन्दगी का हिस्सा थीं।''[11] वे सैकड़ों उदहारण देते हैं जो हमें इस बात का कायल बनाने के लिए पर्याप्त हैं कि ये बर्बर कार्रवाइयाँ सरकारी नीति थीं। टर्स ने वियतनाम के देहाती इलाके का भी दौरा किया और पाया कि हर गाँव में, चाहे वह कितना ही छोटा और दूर-दराज क्यों न हो, किसानों ने मृतक ग्रामीणों के नामपट्ट सहित स्मारक बनाये हैं, जिनमें से कई लोग रोज-रोज होने वाले ऐसे अत्याचारों के शिकार हुए जिनकी कहीं रपट भी नहीं लिखी जाती थी।

टर्स ने कई कर्नलों और जेनरलों का भी ब्यौरा दिया है, जिन्होंने उन्मादी तरीके से कत्ल अनुपात को ऊँचा रखा, चाहे जो भी उपाय करना पड़े। फरवरी 1968 में जेनरल जूलियस ऐवेल ने वियतनाम के मेकोंग डेल्टा क्षेत्र की कमान सम्भाली जो 50 लाख की घनी आबादीवाला इलाका है। एवेल और उसके अधीनस्थ कर्नल इरा हंट ने "पागल" की तरह आगे बढ़ कर इतने अधिक नागरिकों के कत्ल का आदेश दिया की उसका नाम ही "डेल्टा का कसाई" पड़ गया। जिस 9वें इन्फैन्ट्री डिवीजन की उसने कमान सम्भाली थी, उसका औसत कत्ल अनुपात नौ था, यानी हर एक अमरीकी सैनिक के बदले नौ दुश्मन की मौत। सरकार के ऑपरेशन स्पीडी एक्सप्रेस

अभियान जिसे इसलिए चलाया गया था कि राष्ट्रपति जॉन्सन और उनके युद्ध योजनाकार उत्तरी वियतनाम के साथ काफी समय से टलती आ रही भावी शान्तिवार्ता के दौरान डेल्टा को दक्षिण वियतनाम के अधीन करवाना चाहते थे, उससे प्रोत्साहन पाकर और खुद अपनी मानसिक बीमारी के चलते भी, एवेल ने आतंक का राज कायम किया। चौदह महीने बाद कत्ल अनुपात विस्मयकारी 134 तक पहुँच गया। वियतनामी मुक्ति सेना जिस तरह की लड़ाई लड़ रही थी, जिसमें बड़े पैमाने की झड़प से वे बचते थे, उसे देखते हुए निश्चय ही मारे गये लगभग सभी लोग नागरिक थे।

वियतनामी, कम्बोडियाई और लाओसी जनता के खिलाफ युद्ध में हुई मौतें

हालाँकि अमरीका ने वियतनाम में जो युद्ध अपराध किये, उनके पुष्ट प्रमाण उपलब्ध कराना जरूरी है, लेकिन यह भी उपयोगी है कि वियतनाम की जनता और उनके देश के ऊपर जितनी मौतें, घाव तथा सामाजिक और पारिस्थितिक तबाहियाँ थोपी गयी, उनका कुछ आँकड़ा प्रस्तुत किया जाये। नीचे जो संक्षिप्त आँकड़े दिये गये हैं, उनमें कम्बोडिया और लाओस के आँकड़े भी शामिल हैं, जो इन देशों में गुप्त अमरीकी बमबारी अभियान के फैलाव का नतीजा था। ये आँकड़े स्तब्ध कर देनेवाले हैं।[12]

- लगभग 17 लाख क्रान्तिकारी योद्धा मारे गये।
- लगभग 25 लाख दक्षिण वियतनामी सैनिक मारे गये।
- 65000 से अधिक उत्तरी वियतनामी नागरिक मारे गये, जो मुख्यतः अमरीकी सेना द्वारा फैक्टरियों, अस्पतालों, स्कूलों और बाँधों पर बमबारी के शिकार हुए थे, जिसका मकसद लोगों की अन्धाधुन्ध हत्या करना था।
- युद्ध के प्रत्यक्ष नतीजे के तौर पर कम से कम 40 लाख वियतनामी जनता मौत के घाट उतार दी गयी, जिसका मतलब है कम से कम 20 लाख आम नागरिक अमरीकी सेना और भाड़े के सैनिकों के हाथों मारे गये। जब 1960 के दशक में युद्ध पूरे जोर-शोर से शुरू हुआ, तब वियतनाम की आबादी 1 करोड़ 90 लाख थी। इसमें से अविश्वसनीय रूप से 21 प्रतिशत आबादी खत्म हो गयी। 1960 में अमरीका की आबादी 18 करोड़ थी। एक ऐसे युद्ध की कल्पना कीजिए जिसमें 3 करोड़ 80 लाख अमरीकी मार दिये गये होते।
- टर्स के स्रोत घायल नागरिकों के बारे में जो अनुमान लगाते हैं, वे इस प्रकार हैं- ''एक संक्षिप्त गणना दिखाता है कि 8000 से 16,000 दक्षिण वियतनामी अधरंगघात के शिकार हुए, 30,000 से 60,000 दक्षिण वियतनामी अन्धे हो गये और 83,000 से 1,66,000 दक्षिण वियतनामी अंग-भंग के शिकार हुए" कुल घायल नागरिकों की संख्या कम से कम 53 लाख थी।[13]
- आज तक के इतिहास में पहले जितने भी युद्ध हुए उनमें दोनों खेमों द्वारा गिराये गये बमों से भी ज्यादा बम गिराये गये और द्वितीय विश्व युद्ध में सभी पक्षों द्वारा जितने बम गिराये गये थे उनसे तीन गुना अधिक बम गिराये गये।
- 1 करोड़ 90 लाख गैलन खरपतवार नाशक ने मिट्टी को जहरीला बनाया। दक्षिण वियतनाम के 15000 गाँवों में से 9000 गाँवों को तबाह कर दिया गया।
- उत्तर में, सभी 6 औद्योगिक शहरों को ध्वस्त कर दिया गया, 30 में से 28 प्रान्तीय शहरों और 116 में से 96 जिला नगरों को बमबारी से तबाह कर दिया गया।
- अमरीका ने 13 बार नाभिकीय बम गिराने की धमकी दी। निक्सन ने अपने राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार और बाद में विदेश मंत्री बने हेनरी किसिंजर को इस मामले में और साथ ही निक्सन द्वारा 1972 में उत्तर पर भारी बमबारी का आदेश दिये जाने के मामले में नरम रुख अपनाने के लिए डॉट लगायी थी। निक्सन ने कहा था कि उसने इस मामले में कोई लापरवाही नहीं की है।[14]
- युद्ध के बाद भी बिन फटे बम और बारूदी सुरंग जो वहाँ की जमीन में फैले हुए थे, उनसे 42,000 और लोगों की जान चली गयी। लाखों एकड़ जमीन से अभी तक जीवित आयुधों की सफाई नहीं हुई है।
- एजेन्ट ऑरेन्ज और पेड़ की पत्तियाँ को जलानेवाले दूसरे रसायन लाखों वियतनामी नागरिकों के स्वास्थ्य के लिए गम्भीर खतरा बने।
- वियतनाम के लगभग सभी तिगुने छतनार जंगल तबाह हो गये।
- कम्बोडिया में गुप्त युद्ध के दौरान 100,000 स्थानों पर सामाजिक विस्थापन, फसलों की तबाही और भुखमरी पैदा हुई। कम्बोडिया में अमरीकी बमबारी, पोल पोट के नेतृत्त्व में खमेर रूज के उत्थान और उसके बाद हुए नरसंहार के लिए सीधे-सीधे जिम्मेदार थी (अमरीका ने उस समय पोल पोट का पक्ष लिया जब आखिरकार वियतनामी सेना ने उसके आतंक राज को समाप्त किया।)
- लाओस के 1,13,716 स्थानों पर 27,56,941 टन आयुध गिराये गये। लाओस के भूदृश्य का बहुत बड़ा भाग बमबारी और विस्फोटक से चूर-चूर कर दिया गया।

मैकनमारा के युद्ध मॉडल व्यवसाय का जानलेवा दोष

फिर भी नरसंहार के बावजूद क्रान्तिकारियों ने अपनी आजादी की लड़ाई जारी रखी और अन्ततः अमरीका के भी उसी तरह पराजित किया, जैसे द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में फ्रांस को पराजित किया था। मैकनमारा के अपराजेय योजना में क्या खोट रह गयी? इसमें सबसे बड़ा दोष यह था कि वह अपने विराट उत्पादन स्कीम की सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में परिकल्पना करने में असफल रहा, न केवल ''कार्यस्थल'' पर, बल्कि वियतनाम और अमरीका के वृहद समाजों में भी। वियतनामी लोगों का दूसरे राष्ट्रों और साम्राज्यों के अत्याचारों से लोहा लेने का हजारों साल पुराना इतिहास था। उन्होंने जीवन के प्रति बड़ा नजरिया अपनाया था और वे अपनी आजादी की हिफाजत के लिए

उससे कही अधिक संख्या मे कुर्बानी देने को तैयार थे, जितना अमरीकियों ने कल्पना की थी। जैसा कि फ्रांसिस ने *फायर इन द लेक* में टिप्पणी की है, जिन लोगों ने युद्ध शुरू किया वे वियतनामी इतिहास, संस्कृति और भाषा के बारे में बहुत कम जानते थे।[15]

यह मानने से बड़ी कोई बेवकूफी हो ही नहीं सकती कि कत्ल अनुपात ही सब कुछ हैं। युद्ध उस दौर में हो रहा था जब दुनिया के पैमाने पर साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष जारी था, जिससे क्रान्तिकारियों को जरूरी समर्थन मिल रहा था। यहाँ तक कि उनको सबसे धनी देशों के लाखों प्रदर्शनकारियों का समर्थन भी मिल रहा था। अमरीका में 1960 के उत्तरार्द्ध तक वहाँ का बहुमत युद्ध को समर्थन दे रहा था, लेकिन उसके बाद एक जीवन्त युद्ध-विरोधी आन्दोलन शुरू हुआ, जिसकी अगुआई अकसर वे नौजवान करते थे जिन्होंने फौज में भर्ती होने से इनकार किया था। सोवियत संघ और कुछ दूसरे देशों ने वियतनामी क्रान्तिकारियों को भौतिक सहायता दी। अमरीका नाभिकीय हथियारों के इस्तेमाल के सम्भावित दुष्परिणामों को देखते हुए इसीलिए जोखिम नहीं ले सकता था कि शीत युद्ध का उसका दुश्मन भी उन हथियारों से अच्छी तरह लैस था।

''युद्ध के कार्यक्षेत्र'' के भीतर भी अन्तरविरोध गहरा रहे थे। जिस तरह अपने मालिकों के खिलाफ मजदूरों की शिकायतें होती हैं और ऐसी शिकायतें कभी-कभी सामूहिक कार्रवाई की ओर भी ले जाती हैं, ठीक वैसे ही निचली कतारों के फौजी अपने कमाण्डरों से उलझने लगे। जबरन भर्ती किये गये काले लोग अपने देश में चल रहे नागरिक अधिकार आन्दोलन और उस साम्राज्यवाद विरोधी ब्लैक पैन्थर पार्टी के उभार से प्रभावित हुए, जिसने खास तौर पर साम्राज्यवाद द्वारा चलाये गये युद्ध को श्वेत अमरीका द्वारा किये गये नस्ली अपराध के साथ जोड़ा। उन फौजियों ने यह सवाल करना शुरू किया कि वे अश्वेत औरतों और मर्दों के खिलाफ क्यों लड़ रहे हैं जो अपना राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध चला रहे हैं जिनको नस्लीवादी दमन से खुद को आजाद करने की जरूरत है।[16] कुछ फौजी बेलगाम हिंसा को देखकर पीछे हट गये जो एक ऐसी सेना द्वारा फैलायी जा रही थी जिसका दावा था कि वह इसलिए लड़ रही हैं कि वियतनामी जनता को लोकतंत्र की स्थापना के लिए आजाद कराना है।[17] जबरन भर्ती किये गये सिपाही अपने देश में चल रहे विरोध प्रदर्शन या अमरीकी राजनेताओं के पाखण्ड तथा दक्षिण वियतनामी सेना और सरकार के भ्रष्टाचार से नावाकिफ नहीं थे। 1960 के दशक की संस्कृति को भी उर्वर फौज के भीतर जमीन मिली और नशाखोरी आमफहम हो चली, जिसकी वजह और कुछ नहीं तो कम से कम यह तो थी ही कि उकताहट और भय से निजात मिले जो कि युद्धक्षेत्र में रोजमर्रे की बात थी।

जैसे-जैसे युद्ध आगे घिसटता गया, हौसला पस्त होता गया और इने-गिने ही ऐसे थे जो बिना वजह अपनी जान जोखिम में डालना चाहते थे, खासकर इसलिए कि वे अब एक साल की अपनी ड्यूटी की अवधि खत्म होने के करीब पहुँच रहे थे। फौजियों ने लड़ने का आदेश मानने से इनकार करना शुरू किया और यह भी अब कोई असामान्य बात नहीं रह गयी कि फौजी अपने अफसर की हथगोलों से धज्जियाँ उड़ा देते। कर्नल रॉबर्ट डी हीनल, जूनियर की विस्मयकारी रिपोर्ट, 1971 सूचनाप्रद है। वे कहते हैं-

> अमरीकी सशस्त्र बलों का हौसला, अनुशासन और लड़ने की योग्यता, कुछ प्रमुख अपवादों को छोड़कर, इस सदी के किसी भी दौर से और शायद अमरीकी इतिहास के किसी भी दौर से बहुत ही खराब और बदतर है।
>
> किसी भी विचारणीय मानदण्ड पर, हमारी सेना जो आज वियतनाम में है, वह हिम्मत हारने की स्थिति तक पहुँच रही है। खास-खास इकाइयाँ झड़प को टाल रही हैं या आदेश नहीं मान रही हैं। अपने अधिकारियों और सहायक अधिकारियों की हत्या कर रही हैं, नशाखोरी में लिप्त हैं और गदर के करीब हैं।[18]

और वे ढेर सारे अनोखे उदाहरण देते हैं-- चिथड़े उड़ाना (आम फौजियों ने अफसरों को हथगोले से उड़ाने के लिए *फैगिंग* शब्द गढ़ा था। 1971 में हर हफ्ते एक डिविजन में एक ऐसी घटना अवश्य होती थी), अफसरों की हत्या करनेवालों के लिए इनाम, आदेश मानने और यहाँ तक कि लड़ाई के लिए तैयार होने से सामूहिक इनकार, वर्दी पहनने से मना करना, युद्ध के खिलाफ सैनिक अड्डों पर खुले आम आन्दोलन, अफसरों के खिलाफ मुकदमा, हिरोइन की बड़े पैमाने पर नशाखोरी और सेना का परित्याग (कभी-कभी दुश्मन की सेना में शामिल हो जाना) मैकनमारा की रणनीति के लिए जरूरी पूर्ण नियंत्रण महज घिसट-पिसट कर चलना हो गया। युद्ध तभी जीता जा सकता है जब सैनिक मैदान में लड़ रहे हों, अगर सैनिक लड़ेंगे नहीं तो युद्ध हारना लाजिमी है।

फौज की बगावत

हड़ताल में निकाल दिये जाने के बाद मजदूर मालिक की सम्पति नहीं रह जाते, लेकिन इसके विपरित फौज छोड़ने वाले फौजियों को सेवानिवृत कर दिया जाता था। वे वापस एक नागरिक की हैसियत से अमरीका लौट आते थे और उन्हें वही नागरिक अधिकार हासिल होते थे जो कहीं भी मिलता। अधिकांश फौजी युद्ध को भूलकर फिर से सामान्य जिन्दगी जीना चाहते थे, जबकि उनमें युद्ध से मोहभंग हुए सैनिक भी अच्छी खासी संख्या में थे और उन्होंने जो कुछ वहाँ देखा और जिया था उससे इतने आहत थे कि वे उनमें सुधार की जरूरत महसूस करते थे। उन्होंने एक-दूसरे को खोजना शुरू किया और वहीं से कभी-कभी बड़े पैमाने के युद्ध-विरोधी आन्दोलन के साथ जुड़कर और ज्यादातर खुद ही संगठन बना लेते थे, जिसका लक्ष्य लोगों को युद्ध की भयावहता के प्रति जागरूक करना होता था। ये संगठन खास तरह के मामले निबटाते थे, जैसे सैनिक मामले के अस्पताल में पूर्व सैनिकों के इलाज का बन्दोबस्त, जो बाद में *बॉर्न औन द फोर्थ जुलाई* फिल्म से काफी विख्यात हुआ। साथ ही वे युद्ध रोकने जैसे बड़े मामले को लेकर भी सक्रिय थे। पुराने फौजियों द्वारा स्थापित संगठन मन को शान्त करने के मकसद को भी पूरा करते थे- एक दूसरे से बातचीत करना, क्योंकि

पुराने लड़ाके अकसर डरावने अनुभवों की गिरफ्त में आ जाया करते थे। सबसे विख्यात और टिकाऊ समूह *वियतनाम वेररन्स अगेंस्ट द वार* (वीवीएडब्लू) था। 1967 में स्थापित यह समूह डेमोक्रेट्स के लिए एक अभियान मुख्यालय, कार्यकर्ताओं के लिए बड़े पैमाने पर प्रदर्शनों की तैयारी का वाहक, रैप संगीत समूह के लिए एक बैठक स्थल, युद्ध अपराध मुकदमों के लिए महफिल जमाने की जगह, नशे के शिकार लोगों के लिए पुनर्वास स्थल बना रहा।''[19]

वीवीएडब्लू युद्ध का विरोध तेज करने के लिए लगातार लोगों को आन्दोलित करता रहा और इसके लिए उसने रणनीतिक तौर-तरीके अपनाये- युद्ध विरोधी प्रदर्शनों में हिस्सेदारी, युद्ध के लिए दिये गये पर्पल हर्टस और दूसरे तमगों को सार्वजनिक रूप से उतार कर फेंकना, ज्ञापन बाँटना, लम्बे अभियानों का आयोजन, जिनका अन्त युद्ध के अत्याचारों को दिखाने वाले नाटकों से होता, राष्ट्रीय राजनीतिक सम्मेलनों में विरोध प्रदर्शन, सार्वजनिक भवनों और स्मारकों पर कब्जा जिनमें स्टैचू आफ लिबर्टी भी शामिल था, समाचार बुलेटिन का प्रकाशन और विख्यात शीतकालीन सैनिक जाँच-पड़ताल जो 1971 में सम्पन्न हुआ जिसमें पूर्व सैनिकों ने वियतनाम में अमरीकी सेना और सरकार द्वारा किये गये युद्ध अपराधों और अत्याचारों की गवाही दी।

सदस्यता 25000 तक पहुँच गयी, लेकिन वीवीएडब्लू का प्रभाव कहीं अधिक था। इसने युद्ध-विरोधी आन्दोलन में नयी जान फूँक दी, युद्ध-विरोधी अनुयायियों को एकत्रित किया क्योंकि अधिकांश लोगों में पूर्व सैनिकों की असंदिग्ध विश्वसनीयता थी और उनके ऊपर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता था कि वे अभिजात हैं, क्योंकि उनमें से ज्यादातर लोग ठेठ मजदूर परिवारों से आये थे। साथ ही उन्होंने सामान्यतः आत्मतुष्ठ अमरीकियों को भी कायल बनाया, खास कर पूर्व सैनिकों के उन अभिभावकों को कि वास्तव में उनके बेटों ने युद्ध के दौरान क्या कारस्तानी की थी। अमरीकी इतिहास में यह पहला अवसर था जब भारी संख्या में सैनिकों ने युद्ध की विडम्बना तथा नौजवानों और (आजकल की फौजी नवयुवतियों) को लोगों की बेवजह जान लेने की अनुमति के बारें में खुलकर, ईमानदारी से और सार्वजनिक रूप से अपनी बात रखी।

एण्डयू इ. हंट अपनी किताब *द टर्निंगः ए हिस्टी आफ वियतनाम वेटर्नस अगेंस्ट द वार* का अन्त करते हुए लिखते हैं कि वीवीएडब्लू ने ''वियतनाम युद्ध समाप्त करवानें में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी,''[20] युद्ध-विरोधी पूर्व सैनिकों की सभी गतिविधियों के बारें में भी काफी हद तक ऐसा ही कहा जा सकता हैं। उन्होंने लोगों को पढ़ाने के काम में हिस्सा लिया, अध्ययन वर्ग चलाया, जीवन्त कला और साहित्य का सृजन किया, सैनिक छावनी के पास युद्ध-विरोधी कॉफी हाउस स्थापित किया, समाचार पत्र, पर्चें-पुस्तिकाएँ और पोस्टरों का प्रचुर मात्रा में प्रकाशन किया, काम पर लगे सैनिकों की यूनियन बनाने और मुकदमा लड़ने में मदद की, जो लोग कनाडा तथा दूसरे देशों में शरण लेना चाहते थे उनकी मदद की और इसी तरह के कई सारे काम किये। जो लोग युद्ध के बाद वियतनाम गये, ताकी वहाँ वियतनामी जनता के साथ मिलकर राष्ट्र के पुनर्निर्माण में यथासम्भव सहायता करें, उनमें वे सबसे अगली कतार में थे। वे अथक परिश्रम करके यह याद दिलाते रहे कि अमरीका के नाम पर क्या क्या-किया गया।[21]

लम्बे समय तक पूर्व सैनिक कार्यकर्ता और *वियतनाम अवेकनिंग* पुस्तक के लेखक माइकल उह्ल द्वारा की गयी निक टर्स की यह आलोचना बिलकुल सही थी कि उन्होंने हजारों युद्ध-विरोधी पूर्व सैनिकों के कामों को नजरअन्दाज किया और साथ ही उनका महत्त्व कम किया। टर्स की खोजें कोई नयी नहीं थीं। उनके द्वारा बतायी गयी अधिकतर बातें पूर्व सैनिकों द्वारा चालिस वर्षों तक सार्वजनिक की जाती रही थी। हाल ही में लिखे अपने एक लेख में उह्ल ने कहा--

> उनके (टर्स के) विवरण में युद्ध-विरोधी पूर्व सैनिक इतिहास बनाने वाले आन्दोलन के रूप में नहीं बल्कि ''सेना में कार्यरत या हाल ही में उससे अलग हुए चेतावनी देनेवाले'' मुठ्ठी भर व्यक्तियों के रूप में आते हैं जिनकी भर्त्सनाओं को ''किनारे लगा दिया गया और नजरअन्दाज कर दिया गया।'' कुल मिलाकर यह कि टर्स ने हमारी अभूतपूर्व कहानी को फुटनोटों के झुरमुट में दबा दिया, जो अपने असली संन्दर्भों से रहित थे और केवल कोई अनुशासित विद्वान ही उनको जोड़कर उस सच्चाई का सदृश्य खड़ा कर सकता था जो वास्तव में घटित हुआ था। एक पाठक खुद ही फैसला कर सकता है कि गयी लड़ाई के अन्तिम वर्षों में युद्ध-विरोधी पूर्व सैनिकों द्वारा वियतनाम में अमरीकी युद्ध अपराध नीति के बारें में जो सार्वजनिक गवाही[22] दी गयी थी, उसे टर्स के कथानुसार ''किनारे लगा दिया गया या नजरअन्दाज कर दिया गया था या नहीं,'' वे यह पता लगा सकते हैं कि पूर्व सैनिकों को बहुत ध्यान से नहीं भी सुना जा रहा हो, तो भी उस दौरान उन्हें सुना जा रहा था और उससे कहीं अधिक जितना आज टर्स सुने जा रहे हैं... वे आन्दोलन को दयनीय बताते हुए कहते हैं कि ''पुस्तिकाओं, छोटी किताबों और गुप्त समाचार पत्रों'' के जरिये युद्ध के असली प्रकृति को प्रदर्शित करने की कोशिश की गयी जिनको यदि अधिकृत अन्दरूनी लोगों ने सरसरी तौर पर भी देखा होता तो उसे ''वामपंथी सनक'' कह कर खारिज कर देते।[23]

उह्ल इस बात के लिए भी टर्स पर प्रहार करते हैं कि वे सैनिकों द्वारा व्यक्तिगत रूप से किये गये अत्याचारों पर अधिक ध्यान देते हैं और सताधारी लोगों द्वारा लिये गये फैसलों के खतरनाक नतीजों पर उतना अधिक ध्यान नहीं देते। इस बात में भी सच्चाई है। अधिकांश सैनिकों को अत्याचारों के बारे में जानकारी थी और उन्होंने खुद देखा भी था, जब कि खुद अत्याचार करने वाले कम ही थे। बड़े युद्ध अपराधी राष्ट्रपति केनेडी, जौन्सन और निक्सन, उनके सलाहकार मैकनमारा और किसिंजर तथा शीर्ष सैनिक अधिकारी थे, जिनमें से ज्यादातर लोगों ने पछतावे का

इजहार नहीं किया। उन लोगों ने युद्ध रोकने के लिए ऐसा कोई संघर्ष नहीं किया, जैसा कि अधिकांश पूर्व सैनिकों ने किया। इन लोगों को कतार में खड़ा करके जेल में भेजना चाहिए था। दूसरे विश्व युद्ध के बाद न्यूरमवर्ग मुकदमे में इससे कम गुनाहों के लिए लोगों को फाँसी की सजा हुई थी। हर मौके पर सैनिकों ने सिद्धान्तनिष्ठ प्रतिक्रिया के द्वारा युद्ध को रोकने के लिए जितना भी कर सकते थे, किया और निश्चय ही जितना आन्दोलन के बाकी हिस्से ने किया, उससे कहीं अधिक योगदान किया। जैसा हंट ने चिन्हित किया है यह बेवजह नहीं था कि वीवीएडब्लू को लेकर निक्सन और उनके युद्धोन्मादी सहकर्मी इतने अधिक बौखलाये हुए थे। वाटरगेट सेंधमारी होने का एक कारण यह भी था-- राष्ट्रपति चुनाव में निक्सन के प्रतिद्वन्द्वी जॉर्ज मैक्गोवर्न का सम्बन्ध युद्ध-विरोधी पूर्व सैनिकों के साथ जोड़ना।[24] वे ''समर्थ अन्दरूनी लोग'' जिनका हवाला टर्स ने दिया है वे पूर्व सैनिक ही थे और सैनिक कमान का पूरी तरह विध्वंस होना ही इस बात का साकारात्मक प्रमाण था कि युद्ध अपना मकसद खो चुका है।

युद्ध पर लीपापोती : जिमी कार्टर से लेकर ओबामा तक वियतनाम युद्ध का गुणगान

अपने लेख में उहल पूछते है कि हम वियतनाम के बारे में कभी पूरी जानकारी हासिल कर पायेंगे या नहीं। वे हमें बताते हैं कि आज अठारह से लेकर उनतीस वर्ष की उम्र के अधिकांश अमरीकी नौजवान सोचते हैं कि वियतनाम में सेना भेजना गलत नहीं था। यह दुखद है, हालाँकि एक ऐसे शिक्षक के रूप में हमारा लम्बा अनुभव, जिसने अकसर युद्ध के बारें में व्याख्यान दिया, हमें बताता है कि इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमारे राजनीतिक शासक मुख्यधारा के मीडिया का बड़ा भाग और साथ ही कुछ विद्वान, फिल्मनिर्माता दक्षिणपंथी थिंक टैक और सैनिक संस्थान 1975 से ही, जब उत्तरी वियतनामी सेना और राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा ने विजय प्राप्त की और अपने देश को मुक्त कराया, तभी से लगातार दो काम कर रहे हैं-- पहला युद्ध के सच को जनता की स्मृति से मिटा देना और दूसरा, उसकी जगह झुठा इतिहास गढ़ना। पहले राष्ट्रपति जीमी कार्टर ने बिना रत्ती भर शर्म किये यह घोषित किया कि ऐसी कोई वजह नहीं है कि अमरीका क्षमा माँगे, क्योंकि नुकसान ''दोनों तरफ'' हुआ था।[25] फिर राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने कहा कि यह ''पवित्र उद्देश्य'' से किया गया युद्ध था।

अब राष्ट्रपति ओबामा ने "वियतनाम युद्ध स्मरणोत्सव" की घोषणा की है।[26] नेशनल डिफेन्स ऑथराइजेशन एक्ट 2008 रक्षा मंत्री को वियतनाम युद्ध की पचासवीं वर्षगाँठ के अवसर पर समारोह आयोजित करने के लिए अधिकृत करता है। यह कानून स्मारक दिवस 2012 से 11 नवम्बर 2025 तक, तेरह वर्षों के कीर्तिगान कार्यक्रम की झलक प्रस्तुत करता है। ओबामा ने इस समारोह के पहले दिन एक घोषणा पत्र जारी किया जिसमें इस तरह के अनोखे शब्द शामिल थे-

> वियतनाम युद्ध की पचासवीं वर्षगाँठ मनाते हुए हम उस पीढ़ी की बहादुरी के प्रति भव्य सम्मान प्रकट करते हैं, जिसने मर्यादापूर्वक देश की सेवा की थी। हम 30 लाख से भी अधिक पुरुषों और स्त्रियों के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं जिन्होंने बहादुरी के साथ देश की सेवा करने के लिए अपना परिवार छोड़कर एक ऐसी दुनिया मे गये जो हर ऐसी चीज से दूर था जिसे वे जानते और प्यार करते थे। *ला द्रांग* से *खे सान्ह* तक, *हुए* से *सायगोन* तक और उनके बीच पड़ने वाले असंख्य गाँवों तक वे जंगलों और धान के खेतों को लाँघते हुए, गर्मी और बरसात को सहते हुए आगे बढ़े और उन आदर्शों के लिए वीरतापूर्वक लड़े जिनसे हम अमरीकी होने के नाते प्यार करते हैं। हवाई जमीनी और समुद्री लड़ाई में एक दशक से भी अधिक समय तक जूझते हुए इन स्वाभिमानी अमरीकियों ने हमारी सशस्त्र सेना की सर्वोच्च परम्परा को कायम रखा।[27]

यह शुरू से लेकर आखिर तक झूठ है। इससे हम कभी नहीं जान पायेंगे कि ऊपर गिनवाये गये हत्याकाण्ड के अलावा

सीआईए ने अपने फीनिक्स प्रोग्राम के जरिये उन हजारों वियतनामियों की हत्या करवायी जिन पर विद्रोही या उनके हमदर्द होने का सन्देह था। इसमें अमरीकी समाजशास्त्रियों, इन्जीनियरों और वैज्ञानिकों ने हिस्सेदारी की थी।[28]

- 50 लाख से अधिक वियतनामियों को जबरदस्ती उनके गाँवों से भगा दिया गया था और उन्हें गन्दी "रणनीतिक बस्तियों" में रहने के लिए मजबूर किया गया था।
- हजारों वियतनामी राजनीतिक बन्दियों को जेल में डाला गया और उन्हें "बाघ के पिंजरे" में यातना दी गयी, फिर उन्हें मरने या शारीरिक या मानसिक बीमारी से जर्जर हालत में पीड़ा झेलने के लिए छोड़ दिया गया।

ये कैसी बहादुरी के कारनामे थे? इनमें किस तरह के महान आदर्श निहीत थे?

स्मरणोत्सव का वेबसाइट बताता है कि रक्षा मंत्री को निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए स्मरणोत्सव कार्यक्रम का आयोजन करना है-

1. अमरीका की ओर से वियतनाम युद्ध के पूर्व सैनिकों को उनकी सेवाओं और बलिदान के लिए धन्यवाद ज्ञापन और सम्मान प्रदान करना, जिनमें वे सैनिक भी शामिल हैं जिनको युद्ध अपराधी के रूप में बन्दी बनाया गया था या जो झड़प के दौरान गायब दर्ज किये गये थे, उनके परिवार का भी धन्यवाद ज्ञापन और सम्मान करना।

2. वियतनाम युद्ध के दौरान सशस्त्र बलों की सेवा को तथा सशस्त्र बलों के साथ मिलकर या सहयोगी के रूप में काम करने वाले सरकारी एजेन्सियों और गैर सरकारी संगठनों के योगदान को रेखांकित करना।

3. वियतनाम युद्ध के दौरान अमरीकी जनता द्वारा घरेलू मोर्चे पर किये गये योगदान के लिए उन्हें याद करना।

4. वियतनाम युद्ध के दौरान किये गये सैनिक शोध से सम्बन्धित तकनीक, विज्ञान और चिकित्सा में हुए विकास को रेखांकित करना।

5. वियतनाम युद्ध के दौरान अमरीका के संश्रयकारियों द्वारा किये गये योगदन और बलिदान को मान्यता प्रदान करना।

यह सब कुछ भयावह है, लेकिन चौथा तो नाजियों को भी गौरवान्वित करने वाली बात है। किसी दिन, निस्सन्देह आतंक के खिलाफ युद्ध को भी याद किया जायेगा (यदि यह समाप्त हो जाये) और हम जानेंगे कि किस तरह इस युद्ध ने हमें ड्रोन का चमत्कार दिया।

इस युद्ध महोत्सव के खिलाफ विरोध बढ़ता जा रहा है, खास कर जैसे-जैसे हम इस साल (2015) स्मरण दिवस पर कार्यक्रमों की शुरुआत की ओर बढ़ रहे हैं जब लेफ्टिनेंट जेनरल क्लाउड एम. किकलाइटर के मुताबिक, "इस प्रयास को बेहतर ढंग से अंजाम देने और इसमें बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेने के लिए हम राष्ट्र की सेवा लेंगे।" वियतनाम युद्ध-विरोधी प्रदर्शनकारियों में से सुविख्यात 29 एक, टॉम हैडेन ने एक याचिका अभियान चलाया है ताकि सरकार को बाध्य किया जा सके कि वह युद्ध के दौरान जो कुछ हुआ, उसका सही-सही विवरण प्रस्तुत करे और उन लोगों को भी इस आयोजन में पूरा मौका दे जिन्होंने इसका विरोध किया था तथा युद्ध के कालक्रम के बारे में अपनी वेबसाईट की जबरदस्त भूलों और गलतियों को सुधारे। माई लाई नरसंहार को पहले एक ''घटना'' बताया गया था; विरोध के परिणामस्वरूप इसको बदला गया, लेकिन "नरसंहार" शब्द नहीं जोड़ा गया। इसी तरह इतिहासकार भी इसकी आलोचना कर रहे हैं, खास कर इस युद्ध ने अमरीका में जो उथल-पुथल मचायी थी उस को लेकर। कुछ युद्ध-विरोधी पूर्व सैनिकों ने एक "वैकल्पिक स्मृति समारोह" आयोजित करने का भी आह्वान किया है।

अलग से विरोधस्वरूप आयोजनों की योजना के अलावा, लगता है कि ये विरोध काफी गर्मागर्म होंगें, खास कर पहले इस लेख में युद्ध खतम करने के जिन प्रयासों का उल्लेख किया गया है, उनकी रौशनी में। उदहारण के लिए हैडेन अमरीकी सैनिकों की बहादुरी का सम्मान करने के खिलाफ नहीं है और वे मुख्यतः इस बात से दुखी हैं कि जिन सैनिकों ने देश को युद्ध में झोंका, वे ही उसकी स्मृति में होने वाले समारोह के प्रभारी हैं। लेकिन पूर्व सैनिकों की बहादुरी का सम्मान आखिर किया ही क्यों जाये? केवल उन्हीं लोगों की साहस का सम्मान किया जाना चाहिए जिन्होंने इसका विरोध किया था और उनमें वे सैनिक भी शामिल हैं, जिन्होंने जोखिम उठा कर विरोध प्रकट किया था। दूसरे यह सही नहीं है कि सैनिकों ने अमरीका को युद्ध में झोंका था। हमारे राजनीतिक, आर्थिक और बौद्धिक अभिजातों ने यह काम किया था। हैडेन जैसे लोग विद्वानों के दुलमुलपन का आइना हैं; वे लोग बाल की खाल निकालते हैं। वेबसाईट टाइम लाइन, या कहिये कि सारा का सारा आयोजन ही साम्राज्यवादी प्रोपगंडा की कवायद है। ऐसे में क्या उम्मीद की जाय? भूलिए मत कि राष्ट्रपति कार्टर ने चुटकी ली थी कि "तबाही तो दोनों ही पक्षों की हुई थी।" इस बात की बहुत ज्यादा चिन्ता क्यों की जाय कि ये सामग्री, जैसा कि वेबसाईट का मानना है कि स्कूलों के लिए सही है? हमारे बच्चों को शिक्षकों द्वारा रोज ही झूठ की घुट्टी पिलाई जाती है, जिनमें कॉलेजों में पढ़ानेवाले शिक्षक भी शामिल हैं। मुझे खुशी होगी, जब ये सामग्री स्मृति समारोह के प्रभारियों द्वारा स्कूलों के कार्यालय में भेजे जायेंगे और वहाँ के शिक्षक और उनके संघ एक साथ मिलकर इनका उपयोग करने से इनकार कर देंगे, लेकिन इसके लिए मुझे काफी समय तक इन्तजार करना होगा। यह बहुत अच्छा होता कि युद्ध का गम्भीरता से अध्ययन किया जाता और इसका महिमामण्डन उन बड़े पैमाने पर सार्वजनिक विरोधों के अधीन होता जो प्रचार-अभियान, मल्टीमीडिया प्रस्तुतियों, जुलूस और प्रदर्शनों से भरपूर होते। यह सब आतंकवाद के खिलाफ अन्तहीन और घातक युद्ध तथा अमरीका को लगातार एक पुलिस राज्य में बदले जाने से सीधे जुड़ा हुआ हो सकता है। ये कार्यक्रम आलोचनात्मक शिक्षा, वर्चस्व के खिलाफ, हमारे जीवन के सभी पहलुओं पर हमारे राजनीतिक अर्थशास्त्र के व्यापक प्रभाव के खिलाफ हस्तक्षेप का एक बहुमूल्य उदाहरण हो सकता है। जैसा कि हेनरी गिरौक्स हमें याद दिलाते हैं, आलोचनात्मक शिक्षा का एक प्रमुख कार्य ऐतिहासिक स्मृति को जिन्दा रखना और अतीत की सच्चाई की गवाही देना है, ताकि आज की राजनीति जीवन्त रूप से लोकतांत्रिक हो सके। हमें हमेशा उन बातों पर सन्देह करना होगा, जो सत्ताधारी लोग हमें बताते हैं तथा ऐसी सभी बातों का समर्थन करना होगा जो समतावादी और मुक्तिकारी हों। इस खास मामले में ऐतिहासिक स्मृति एक प्रकार के सार्वजनिक शिक्षाशास्त्र के रूप में काम करती है जो न केवल ''अमरीकी कल्पना-भ्रंश मशीन'' के प्रभुत्वशाली आख्यान और युद्ध के महिमामण्डन को चुनौती देता हो, बल्कि उस तौर-तरीके को भी बदलने की कोशिश करता है, जिस तरह अमरीकी जनता वियतनाम में की गयी भयावहता के बारे में तथा राज्य हिंसा और सैन्यवाद की इस बीमारी के बारे में सोचती है। चूँकि हम गिरौक्स के तर्कों को दिल से पसन्द करते हैं, इसलिए हमें इस बात पर सबसे ज्यादा जोर देना चाहिए कि अमरीका ने वियतनामी जनता के साथ क्या किया था और उन बहादुर लोगों ने इस धरती की सबसे ताकतवर सैन्यशक्ति का किस तरह मुकाबला किया और कैसे उसे पराजित किया।

अमरीकी सैनिकों का भारी नुकसान हुआ था और जो लोग बच गये वे आज भी उस दीर्घकालिक युद्ध की पीड़ा झेल रहे हैं। हालाँकि वियतनामी जनता ने जिस क्रूरता का सामना किया उसकी तुलना में यह बहुत कम है, फिर भी बुरी तरह आजमाए गये उस राष्ट्र की जनता के जीवन में हिंसा आज भी जिन्दा है। हमें उन्हीं लोगों का सम्मान, अभिनन्दन और स्मरण करना चाहिए। उन्होंने विदेशी शासन से मुक्ति के लिए जितनी बहादुरी से लड़ाई लड़ी और जितनी पीड़ा झेली, उतना हमने अपनी मुक्ति के लिए नहीं

की। उन्होंने जितना सहा और जो कुछ किया वह हमें अमरीकी युद्ध-पिपासा और साम्राज्यवाद से लड़ने तथा मानवता के अनुरूप एक समतामूलक समाज बनाने के लक्ष्य के लिए शिक्षित, आन्दोलित और नये सिरे से संगठित होने की दिशा में हमारे प्रयासों को दुगना करने के लिए प्रेरित करेगा।

टिप्पणियाँ--

1. 16 मार्च 1968 को अमरीकी सेना के फौजियों ने वियतनाम के दो गाँवों में लगभग 500 नागरिकों का कत्लेआम किया था, जिसमें से एक को सेना ने अपने नक्शे में दर्शाया था। इसीलिए इस का नाम "माई लाई नरसंहार" पड़ा।
2. निक टर्स, *किल एनिथिंग देत मुव्स : द रियल वार इन वियतनाम* (न्यु यार्क, हेनरी होल्ट एण्ड कॉ., 2013)।
3. टर्स की किताब अचानक रची गयी। वियतनाम के पूर्व सैनिकों के बीच आघात के बाद तनाव व्याधि (पीटीएसडी) पर शोध करते हुए नेशनल आर्काइव्स के एक अभिलेखविद ने टर्स से पूछा कि पीटीएसडी के पीछे युद्ध अपराध का चश्मदीद होना भी तो एक कारण हो सकता है। वह टर्स को पुराने फाइलों के एक भंडार के पास ले गया जिसमें एक गुप्त पेंटागन टास्क फोर्स द्वारा किये गये ऐसे ही अपराधों के बारे में छानबीन का ब्यौरा था, जिसे उनकी जाँच-पड़ताल करनी थी ताकि सेना अगले माई लाई नरसंहार के लिए तैयार हो सके। इसे ही अपनी भावी किताब का आधार बनाकर लेखक ने वियतनाम में युद्ध अपराध की जाँच शुरू की। इसके चलते उसे एक और सार्वजनिक अभिलेखागार में जाना हुआ, निजी अभिलेख और पत्र, सार्वजनिक अधिकारीयों से कई सारे इन्टरव्यू, अमरीकी पूर्व सैनिकों का सौ से ज्यादा इन्टरव्यू लेना पड़ा तथा वियतनाम की यात्रा करनी पड़ी जहाँ उसने गम्भीर व्यक्तिगत दुर्व्यवहार और परिवार का नुकसान सहनेवाले कई ग्रामीणों का इन्टरव्यू लिया, कई ग्रामीण युद्ध स्मारकों का दौरा किया और सभी प्रासंगिक साहित्यों का अध्ययन किया। इसका नतीजा यह हुआ कि अमरीकी सरकार और इसके शीर्ष सैनिक अधिकारियों पर कलेजा चीर देनेवाले अभियोग लगे तथा यातना, हत्या और वियतनामी भूदृश्य की तबाही का ऐसा विवरण सामने आया, जिसे पढ़ पाना कठिन है।
4. मैकनमारा राष्ट्रपति कैनेडी का रक्षा मंत्री भी था। हालाँकि ऐसे लोग भी हैं जो मानते हैं कि कैनेडी ने वियतनाम में सेना नहीं भेजी होती, जो काम जॉनसन ने किया, जबकि कैनेडी एक वचनबद्ध शीतयुद्ध लड़ाका था। यह तथ्य कि मैकनमारा ने कैनेडी के अधीन भी वही किया जो जॉनसन के अधीन रहते हुए किया था, यह बताता है कि कैनेडी कोई श्वेत कपोत नहीं था।
5. कैथलीन टी. रेम, *"रम्सफील्ड ऑन टेररिस्ट्स : ड्रेन द स्वैम्प डे लीव इन"* 18 सितम्बर, 2001, http://defense.gov।
6. देखें विकी हैडोक, *"द साइन्स ऑफ क्रिएटिंग किलर्स"* 13 अगस्त 2006, http://sfgate.com।
7. फौजियों का प्रशिक्षण और उत्पीड़कों के प्रशिक्षण में काफी समानता होती है, यानी साधारण इनसान को एक ऐसे इनसान में बदलना जो हिंसा के भयावह कृत्य करने का इच्छुक हो। देखें जनिश टी. गिब्सन और मिका हैरितस-फैतोरस, *"एजुकेशन ऑफ ए टॉर्चरर,"* सायकोलोजी टुडे 20, नं. 6 (नवम्बर 1986) : 246-51।
8. टर्स के अनुसार, लाश का उत्पादन करने के बदले प्रोत्साहन के रूप में "तरह-तरह के आराम और मनोरंजन पास मिलते थे जिसमें फौजी को समुद्र के किनारे होटल में कई दिन धूप में मजा करने की अनुमति हो सकती थी, इसके आलावा मैडल, बैज, अतिरिक्त खाना, अतिरिक्त दारू, मनचाहा कपडे पहनने की इजाजत और कैम्प में हलकी ड्यूटी की भी सुविधा दी जाती थी।" टर्स, *किल एवरीथिंग दैट मुव्स,* किन्डल एडिशन, 44।
9. वेस्टमोरलैंड ने यह बयान *हट्र्स एण्ड माइंड* फिल्म में दी है। (1974)।
10. ग्राहम ग्रीन का उपन्यास, *द क्वाइट अमेरिकन,* यह स्पष्ट करता है कि "सहायक कर्मी" वियतनाम में भारी फौज उतारे जाने से काफी पहले भी थे। ग्राहम ग्रीन, *द क्वाइट अमेरिकन,* (लन्दन : पेंगुइन क्लासिक, 2004)। मूल रूप में 1955 में प्रकाशित।
11. टर्स, *किल एवरीथिंग दैट मुव्स,* किन्डल एडिशन, 6।
12. वही, 11-12; ओलिवर स्टोन एण्ड पिटर कुज्निक, *द अनटोल्ड हिस्ट्री ऑफ यूनाइटेड स्टेट्स* (न्यू यार्क : गैलरी बुक्स, 2012), चौप्टर 10।
13. टर्स, *किल एवरीथिंग दैट मुव्स, किन्डल एडिशन,* 13।
14. स्टोन एण्ड कुज्निक, *द अनटोल्ड हिस्ट्री ऑफ यूनाइटेड स्टेट्स,* किन्डल एडिशन, लोकेशन 8714-8729।
15. फ्रांसेस फिट्जगेराल्ड, *फायर इन द लेक : द अमेरिकन एण्ड वियात्नामिज इन वियतनाम* (न्यू यार्क : लिटल, ब्राउन एंड कम्पनी, 1972)।
16. जोसुआ ब्लूम और वाल्डो मार्टिन, *ब्लैक अगेंस्ट इम्पायर : द हिस्ट्री एण्ड पोलिटिक्स ऑफ ब्लैक पैन्थर पार्टी* (बर्कले : युनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, 2013)। जैसा कि मोहम्मद अली ने 1967 में सेना में भर्ती होने से इनकार करने की व्याख्या करते हुए कहा था-- "वे मुझे वर्दी पहनने और घर से दस हजार मील दूर जाने और वियतनाम में भूरे लोगों के ऊपर बम गिराने और गोली मारने के लिए कहते हैं जबकि लुइसविले के तथाकथित काले लोगों के साथ कुत्तों जैसा व्यवहार होता है और उन्हें साधारण मानवाधिकारों से भी वंचित किया जाता है?" *"मुहम्मद अली एक्सप्लेन हिज रिफ्यूजल तो फाईट इन वियतनाम(1967),"* http://lphahistory.com।
17. कुछ बहादुर सैनिकों ने अपने वरिष्ट अधिकारियों से उत्पीड़न की शिकायत की। यह काम बहुत खतरनाक था; जिस व्यक्ति ने ऐसा किया उसे अपने वरिष्ठ अधिकारीयों और सहकर्मी सैनिकों द्वारा बदला लिये जाने का खतरा था, जिसमें हिंसा और मौत भी शामिल थे। *कैजुअल्टीज ऑफ वार*

(1998) फिल्म में, जो वास्तविक घटनाओं पर आधारित है, इसका एक जुझारी चित्रण किया गया है।

18. कर्नल रॉबर्ट डी. हीन्ल, जूनियर, *"द कोलैप्स ऑफ द आर्म्ड फोर्सेज,"* आर्म्ड फोर्सेज जोर्नल, जून 7, 1971, https://msuweb.montclEir.edu।
19. एंड्रयू इ. हंट, *द टर्निंग : ए हिस्ट्री ऑफ वियतनाम वेटरन्स अगेंस्ट वार* (न्यू यार्क : एनवाईयु प्रेस, 1991), किन्डल लोकेशन्स 4005-4007।
20. वही, किन्डल लोकेशन्स 4160-4161।
21. युद्ध-विरोधी पूर्व सैनिकों के काम का अच्छा विवरण फिल्म *सर! नो सर!!* (2005) और *विंटर सोल्जर इन्वेस्टिगेशन* (1972) में, साथ ही हंट की उपरोक्त किताब में और जेम्स साइमन कुनेन की किताब *स्टैण्डर्ड ऑपरेटिंग प्रोसीजर : नोट्स ऑन ए ड्राफ्ट-एज अमेरिकन* (न्यू यार्क : एवन, 1971) में देखा जा सकता है। ये दोनों फिल्में मुझे डेविड स्लाद्की ने भेजने की मेहरबानी की थी। डॉक्युमेंट्री फिल्म *सेम, सेम बट डिफरेंट* पूर्व सैनिकों की दिल को छू लेनेवाली कहानी कहती है जो दुबारा वियतनाम जाकर उस देश के पुनर्निर्माण के काम में लगे थे।
22. उहल ने माईकेल उहल, *"ए क्लिपिंग फाइल ऑफ वेटरन वर क्राइम्स टेस्टीमानी सिरका 1969 1971,"* अप्रैल 5, 2013, के लिए एक लिंक दिया है, http://inthemindfield.com।"
23. माईकेल उहल, *"ऐन एनफैन्ट टेरिबल एस्टम्बल्स अपोन द वियतनाम वार,"* 9 अप्रैल, 2013, http://counterpunch.org। इसे भी देखें, माईकेल उहल, *वियतनाम अवेकनिंग : माई जर्नी फ्रॉम कम्बैट टू द सिटिजन कमीशन ऑन इन्क्वायरी ऑन यु. एस. वार क्राइम्स इन वियतनाम* (जेफरसन, एनसीरू मैकफर्लेंड पब्लिशिंग, 2007)।
24. हंट, *द टर्निंग पॉइंट,* किन्डल लोकेशन 4136-4144।
25. जिमी कार्टर, *"द प्रेसिडेंट'स न्यू कान्फ्रेंस,"* 24 मार्च 1977, द अमेरिकन प्रेसिडेंसी प्रोजेक्ट, http://www.presidency.ucsb.edu।
26. अगले तीन पैरा में दी गयी सुचना, यदि अलग उल्लेख न किया जाय तो कोमेमोरेशन वेब साईट से ली गयी है : http://vietnamwar50th.com। पहली बार मैंने इस पर 2013 में रिपोर्ट तैयार की थी; देखें माइकल डी. येट्स, *"ओलिवर स्टोन, ओबामा, एंड वार इन वियतनाम,"* 11 जनवरी, 2013, http://cheapmotelsandahotplate.org।
27. प्रेसिडेंट ऑफ युनाईटेड स्टेट ऑफ अमेरिका, *"कोमेमोरेशन ऑफ 50थ एनिवर्सरी ऑफ द वियतनाम वार"* 25 मार्च, 2012,
28. http://vietnamwar50th.com। यह पहला पैरा है। आगे और भी भद्दी है : ''कृतज्ञ राष्ट्र के रूप में, हम 58,000 से भी अधिक देशभक्तों को सम्मानित करते हैं- उनके नाम काले ग्रेनाईट पत्थर पर खुदे हैं- जिन्होंने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। हम उन नायकों से प्रेरणा ग्रहण करते हैं जिन्होंने युद्ध बन्दी के रूप में अकथनीय पीड़ा झेली, और फिर भी सर उठा कर देश वापस आये। हम उनमें विश्वास रखने की कसम खाते हैं जो घायल हुए और आज भी युद्ध के दाग, दृश्य और अदृश्य, ढो रहे हैं। हमारे सैनिक सेवा के 1600 लोग अभी भी गायब लोगों में शामिल हैं, हम कसम खाते हैं कि एक राष्ट्र के रूप में हमसे जो बन पड़ेगा, उनको देश वापस लाने के लिए करेंगे। दीवार की लिखावट के रूप में हम पढ़ रहे हैं कि सैनिक परिवार और पूर्व सैनिक एक ऐसी पीड़ा ढो रहे हैं जो कभी कम नहीं होगी। हो सकता है कि उनको तसल्ली हो कि उनके प्रिय परिजन को न केवल मैडल और स्मृति चिन्ह मिला, बल्कि वे सभी अमरीकियों के दिलों में हैं, जो हरदम उनकी सेवा, वीरता और त्याग के लिए कृतज्ञ हैं।"
29. डगलस वेलेंटाइन, *द फिनिक्स प्रोग्राम* (ब्लूमिंगटन, आईएन : आईयूनिवर्स : 2000)।
30. शेरिल गे स्तोल्बर्ग, *"पेइंग रिस्पेक्ट, पेंटागन रिवाइव वियतनाम, एंड वर ओवर ट्रुथ,"* न्यू यार्क टाइम्स, 9 अक्टूबर, 2014, http://nytimes.com।
31. *द किल टीम* फिल्म दिखता है कि जिस तरह का प्रशिक्षण के जरिये जिस तरह से नागरिकों की हत्या वियतनाम में हुई थी, ठीक वही आज इराक और अफगानिस्तान में की जा रही है। आतंक के खिलाफ युद्ध और अमरीका को पुलिस राज में बदले जाने के बारे में और अधिक जानकारी के लिए, देखें हेनरी ए. गिरोक्स, *जोम्बी पोलिटिक्स इन द एज ऑफ कैसिनो कैपिटलिज्म, सेकण्ड एडिशन* (न्यू यार्क : पिटर लांग, 2014)।
32. सरकार का मौजूदा खर्च, सरकारी कर्ज पर ब्याज को छोड़कर, टैक्स राजस्व से कम है। प्रथमतया घाटा नहीं दिखेगा, लेकिन कुल मिलाकर घाटा है, क्योंकि यदि ब्याज मिलाकर सरकार का कुल खर्चा जोड़ें तो यह टैक्स राजस्व से ज्यादा है।

वियतनाम पर कुछ बेहतरीन फिल्में

एंडरसन प्लाटून (1967)
एपोकेलिप्स नाऊ (1979)
बर्कले इन द सिक्स्टिज (1990)
बॉर्न ऑन द फोर्थ ऑफ जुलाई (1989)
कैजुअल्टीज ऑफ वार (1989)
द डियर हन्टर (1978)
द फॉग ऑफ वार (2003)
फुल मेटल जैकेट (1987)
हर्ट्स एण्ड माइंड्स (1974)
द किल टीम (2013)
द मोस्ट डेंजरस मैन इन अमेरिका (2009)
प्लाटून (1986)
द क्वाइट अमेरिका (1958 और 2002)
सेम, सेम बट डिफरेंट (2012)
सर! नो सर!! (2005)
द अनटोल्ड हिस्ट्री ऑफ यूनाइटेड स्टेट्स, शो टाइम टेलीविजन सीरीज (2012)
वियतनाम : अमेरिकन होलोकोस्ट (2008)
विन्टर सोल्जर इन्वेस्टिगेशन (1972)